मानव सेवा संघ
परिचय

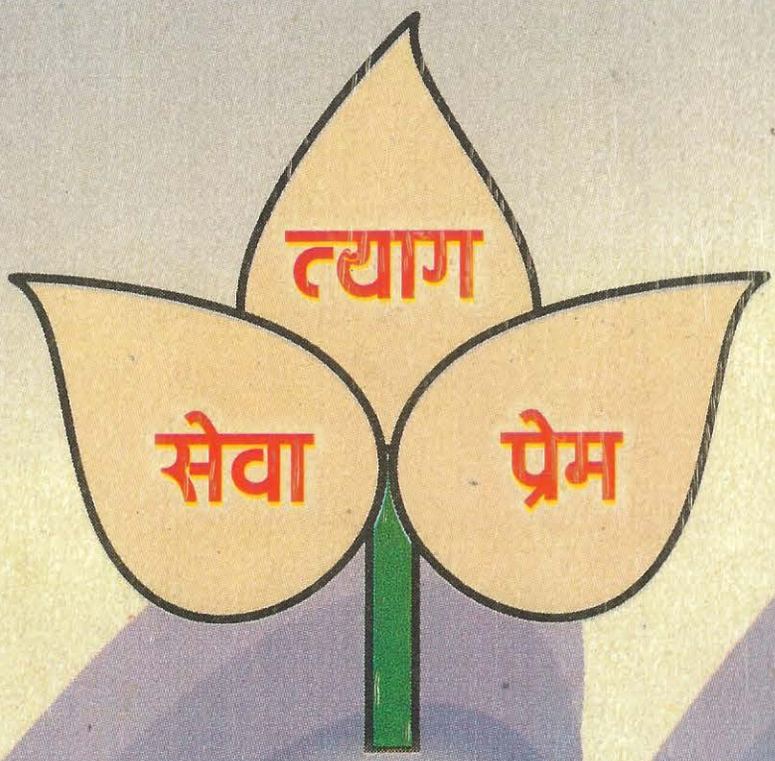

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

मानव सेवा संघ परिचय

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

• प्रकाशक :

मानव सेवा संघ
वृन्दावन (मथुरा)
पिन-281121

© सर्वाधिकारी प्रकाशक

• संशोधित नौवाँ संस्करण-अक्तूबर, 2007

• 5000 प्रतियाँ

• मूल्य Rs 15 00

• मुद्रक :
पावन प्रिन्टर्स,
मेरठ

प्रार्थना

('प्रार्थना' आस्तिक प्राणी का जीवन है।)

मेरे नाथ!
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें;
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जाएँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

वस्तु खिंचती है धरती की ओर
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर

अनुक्रमणिका

क्रमांक		पृष्ठ
1.	मानव सेवा संघ के संस्थापक का संक्षिप्त परिचय	7
2.	मानव सेवा संघ का ज्ञापन	9
3.	मानव सेवा संघ का प्राकट्य	12
4.	मानव सेवा संघ के ग्यारह नियम	16
5.	'मानव', 'सेवा' और 'संघ' की व्याख्या	18
6.	मानव सेवा संघ का प्रतीक चिन्ह	23
7.	मानव सेवा संघ की सदस्यता	28
8.	मानव सेवा संघ की इकाइयाँ तथा शाखा सभाएँ	29
9.	मानव सेवा संघ के आश्रम	31
10.	मानव सेवा संघ के आजीवन कार्यकर्त्ता तथा स्थायी साधक	38
11.	मानव सेवा संघ का दर्शन	42
12.	मानव सेवा संघ की नीति	45
13.	मानव सेवा संघ की आचार संहिता	49
14.	उपलब्ध साहित्य	79

मेरा मुझमें कुछ नहीं,
जो कुछ है सो तोर !

1. मानव सेवा संघ के संस्थापक प्रज्ञाचक्षु सन्त—स्वामी शरणानन्द जी महाराज

महामानव क्रान्तदर्शी सन्त स्वामी शरणानन्द जी महाराज का आविर्भाव 20 वीं शती के प्रारम्भ में उत्तर भारत में हुआ।

बचपन में ही लगभग 10 वर्ष की अल्पावस्था में ही उनकी नेत्र-ज्योति चली गई। इस दुखद घटना से उनका सारा परिवार अथाह दुःख में डूब गया, किन्तु उस छोटे-से बालक के मन में एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि "क्या कोई ऐसा भी सुख है जिसमें दुःख शामिल न हो।" उत्तर मिला—ऐसा सुख तो साधु-सन्तों को प्राप्त होता है। इन्होंने निश्चय किया कि मैं साधु हो जाऊँगा। उनके सद्गुरु रूप सन्त ने परामर्श दिया कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ। ईश्वर की शरणागति स्वीकार करते ही इनके मन में प्रभु-मिलन की तीव्र अभिलाषा जाग्रत हो गई। संसार और शरीर के सभी बन्धनों को इन्होंने ढीला कर दिया। 19 वर्ष की अल्पायु में इन्होंने विधिवत् संन्यास ले लिया।

अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होकर इन्होंने परम स्वाधीन, दिव्य, चिन्मय, रसरूप जीवन पा लिया। प्रचण्ड ज्ञान, अकाट्य युक्ति, सरल विश्वास एवं अनन्य भक्ति—ये सभी पक्ष इनमें अपनी पराकाष्ठा पर थे। इनका जीवन योग, बोध एवं प्रेम का सजीव प्रतीक था।

वाक्पटुता, उन्मुक्त अट्टहास, स्नेहिल व्यवहार ने स्वामी जी के व्यक्तित्व को अत्यन्त आकर्षक बना दिया। उनकी अहं-शून्य वाणी में ज्ञान और प्रेम की गंगा-यमुना प्रवाहित होती रहती थी। उनका उद्घोष था—

मेरा कुछ नहीं है,
मुझे कुछ नहीं चाहिए,
मैं कुछ नहीं हूँ,
सर्वसमर्थ प्रभु ही मेरे अपने हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण नरसंहार तथा भारत-विभाजन के समय बर्बरतापूर्ण अमानवीय कुकृत्यों से उनका नवनीत कोमल हृदय द्रवित हो गया। हृदय की उस व्यथा के फलस्वरूप 'मानवता के मूल सिद्धान्त' प्रकाश में आए और उसी विचार प्रणाली का प्रतीक बना मानव सेवा संघ।

श्री स्वामी जी महाराज ने अपना मत दूसरों पर आरोपित नहीं किया। स्वयं दृढ़ ईश्वरवादी होते हुए भी कभी ईश्वरवाद का प्रचार नहीं किया। वे तत्त्वदर्शी सन्त थे। उनका यही विचार था कि 'दर्शन अनेक और जीवन एक।'

उनके अन्तिम शब्द थे—

कोई और नहीं, कोई गैर नहीं

महाराज जी के मतानुसार जीवन का सुन्दरतम चित्र है कि—

— शरीर विश्व के काम आ जाए
— अहं अभिमान-शून्य हो जाए
— हृदय प्रभु-प्रेम से भर जाए

स्वामी जी महाराज जब तक इस संसार में रहे तब तक उन्होंने अपना जीवनदायी संदेश नगर-नगर में भ्रमण करते हुए जन समाज को सुनाया और इस बात के लिए सदैव आतुर रहे कि प्रत्येक भाई-बहन अपने कल्याण के लिए प्रयत्नशील हो और स्वयं को सुन्दर बनाकर एक सुन्दर समाज का निर्माण करने में अपना योगदान करे।

25 दिसम्बर सन् 1974 को गीता जयन्ती के पावन पर्व पर स्वामी जी ब्रह्मलीन हो गए।

2. मानव सेवा संघ

सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट 21 ऑफ 1860 के अन्तर्गत 18 नवम्बर 1953 ई० को पंजीकृत रजिस्टर्ड कार्यालय-मानव सेवा संघ, वृन्दावन, उत्तर प्रदेश

ज्ञापन

MEMORANDUM OF ASSOCIATION

प्राकृतिक नियमानुसार मानव-समाज को सत्पुरुषों द्वारा सदैव प्रकाश मिलता रहा है। आज मानव-समाज में दो विभिन्न विचार धाराओं का संघर्ष है। यद्यपि दोनों का वास्तविक लक्ष्य एक ही है, तथापि उनमें प्रमादवश परस्पर स्नेह की एकता का अभाव होता जा रहा है। इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर और दुःखद सिद्ध हुआ है। एक विचारधारा तो यह है कि हम समाज से विमुख होकर एकान्तिक जीवन द्वारा अपना कल्याण करें और दूसरी यह है कि हम केवल अपने ही कल्याण को जीवन का ध्येय न मानें, पर समाज को सुन्दर बनाकर अपने को कृतार्थ करें। किन्तु इन दोनों में स्नेह की एकता का संचार करना ही वास्तविक उपयोगी विचारधारा है। यह तभी सम्भव है, जब प्राणी सत्पुरुषों से प्राप्त प्रकाश द्वारा अपने को निर्दोष बनाकर अपने कर्त्तव्य से दूसरों के अधिकारों की रक्षा करता हुआ स्नेह की एकता स्थापित करके, सेवा द्वारा समाज को सुन्दर बनाने के लिए प्रयत्नशील बना रहे। मानव सेवा संघ इसी विचारधारा का प्रतीक है।

1. संस्था का नाम—इस संस्था का नाम **'मानव सेवा संघ'** होगा।

2. रजिस्टर्ड कार्यालय—मानव सेवा संघ का रजिस्टर्ड कार्यालय, जिसे केन्द्रीय कार्यालय कहा जाएगा, वृन्दावन, उत्तर प्रदेश में स्थित होगा।

3. उद्देश्य—मानव सेवा संघ का उद्देश्य निम्नलिखित नीति तथा कार्यों में से एक या अधिक या सभी को कार्यान्वित करना होगा—

(क) राष्ट्र, जाति तथा सम्प्रदाय का भेद न रखते हुए भिन्न-भिन्न उपयुक्त प्रयोगों द्वारा मानव-समाज के निम्नलिखित वर्गों की यथा शक्ति सेवा करना—

(i) बालक
(ii) महिला
(iii) रोगी/वृद्ध
(iv) विरक्त
(v) समाज-सेवक

(ख) मानव-हितकारी पशुओं तथा वृक्षों का संरक्षण और संवर्द्धन।

(ग) सत्संग की योजना, विचार-विनिमय तथा सद्ग्रन्थों एवं आध्यात्मिक साहित्य के प्रकाशन द्वारा सत्य का अन्वेषण करना।

(घ) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन तथा सत्यान्वेषण द्वारा व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्थान करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सभी आवश्यक साधन प्रस्तुत करना तथा उनके लिए नियम बनाना।

4. उन संस्थाओं को जो मानव सेवा संघ के उद्देश्यों को स्वीकार करते हुये मानव सेवा संघ में सम्मिलित (Merge) होना चाहें, उनकी इच्छानुसार स्मारक, चिह्न तथा नाम की यथा-सम्भव रक्षा करते हुए सम्मिलित करना और मानव सेवा संघ के नियमानुसार ही उनका प्रबन्ध करना।

5. मानव सेवा संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए चल एवं अचल सम्पत्ति का नियमानुसार प्रबन्ध, उपार्जन, व्यय अथवा हस्तान्तरण करना, प्रतिभूतियों (सिक्योरिटीज) में लगाना एवं ऋण लेना।

6. सोसायटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट सन् 1860 के अन्तर्गत रजिस्टर्ड मानव सेवा संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसकी नियमावली के अनुसार आजीवन कार्यकर्त्ता समिति के अध्यक्ष के पर्यवेक्षण में केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति द्वारा प्रस्तावित कार्य करना।

❑

3. मानव सेवा संघ का प्राकट्य गीता जयन्ती के शुभ दिन तारीख 27–11–52 को हुआ।

मानव सेवा संघ मानवमात्र का अपना संघ है। इसमें प्रत्येक मत, सम्प्रदाय एवं विचारधारा के भाई-बहिन सम्मिलित होकर मानव-जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं। यह सभी के सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। यद्यपि बीज रूप से मानवता मानव-मात्र में विद्यमान है, परन्तु निज विवेक के अनादर तथा प्राप्त बल के दुरुपयोग के कारण आज मानव-समाज की बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है। इस व्यथा से व्यथित होने पर अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव सेवा संघ का प्रादुर्भाव हुआ है। मानव सेवा संघ उन मौलिक सिद्धान्तों का प्रतीक है, जिनको अपनाकर प्रत्येक भाई-बहिन अपना सुधार अपने द्वारा करने में समर्थ हो सकते हैं।

मानव सेवा संघ किसी मत-सम्प्रदाय आदि का आग्रही और विरोधी नहीं है, अपितु साधननिष्ठ होने में जो बाधाएँ आती हैं, उनके निवारण का प्रयास करता है। उसका कोई भी परामर्श जीवन-विज्ञान, जीवन-दर्शन एवं आस्था के विरुद्ध नहीं होता, प्रत्युत् जीवन-विज्ञान का आदर करते हुए यह मानवमात्र को कर्त्तव्यनिष्ठ होने की प्रेरणा देता है, जो लोक-कल्याण का मूल मन्त्र है। जीवन-दर्शन का आदर करते हुए यह सभी को देहातीत अविनाशी तत्त्व से अभिन्न होकर परम स्वाधीन जीवन पाने की प्रेरणा देता है जो आध्यात्मिकता का चरम उत्कर्ष है और आस्था के आधार पर प्रभु-विश्वास को अपना कर जीवन को प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण बनाता है जो मानव-मात्र की मौलिक माँग है।

मानव सेवा संघ अपने विकास द्वारा समस्त विश्व के विकास की बात बताता है। किसी के ह्रास में किसी का विकास होगा, इस बात का समर्थक नहीं है, प्रत्युत् घोर विरोधी है, क्योंकि दूसरों के प्रति हम जो करते हैं, वही अनेक गुना अधिक होकर अपने साथ होता है। यह प्रकृति का अमिट विधान है। यह विधान त्रिकालाबाधित है। मानव सेवा संघ इस विधान का पालन करने की प्रेरणा देता है, जिससे आचरण का प्रथम सूत्र बनता है—**'बुराई-रहित हो जाओ'**। भलाई करो या न करो—यह अलग बात है, पर अपना तथा समाज का कल्याण चाहो, तो जीवन में बुराई मत रखो।

मंगलमय विधान से मानव-जीवन में जो मानवता बीजरूप से विद्यमान है उसके विकसित होने में सभी का विकास है। मानवता ही वास्तविक जीवन है। मानवता की जागृति होते ही जीवन अपने लिए, जगत् के लिए और जगत्पति के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। मानव सेवा संघ उसी जीवन की ओर मानव-मात्र को प्रेरित करता है।

मानव सेवा संघ किसी भी भाई-बहिन को कोई ऐसी बात नहीं बताता जो उसकी अपनी बात न हो, अर्थात् यह अपनी आँखों देखने और अपने पैरों चलने की प्रेरणा देता है।

मानव सेवा संघ प्राप्त वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के सदुपयोग का पाठ पढ़ाता है। उनमें जीवन-बुद्धि नहीं होने देता, प्रत्युत् यह मानव मात्र को परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश करने का अमर सन्देश देता है।

व्यक्तिगत भिन्नता के तथ्य को स्वीकार करता हुआ मानव सेवा संघ प्रीति तथा साध्य की एकता में आस्था रखता है। व्यक्तिगत भिन्नता

के कारण सभी की रुचि, योग्यता, सामर्थ्य एवं परिस्थिति समान नहीं होती। इस दृष्टि से जिस साधक की जैसी बनावट है उसी के अनुसार परामर्श देकर मानव सेवा संघ उसके साधन-निर्माण में सहयोग देता है।

यह प्रणाली साधक-समाज के लिए बहुत ही उपयोगी है। इसी आधार पर मानव सेवा संघ हमें प्रेरणा देता है कि हम व्यक्तिगत विचार का अनुसरण करें और सभी विचार धाराओं का आदर करें। अनेक प्रकार की भिन्नता के रहते हुए भी प्रीति की एकता को स्वीकार करें। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ में सबका प्रवेश है और इसमें मानव-जीवन की सभी समस्याओं का समाधान है। मानव-जीवन की व्यक्तिगत एवं सामूहिक सब प्रकार की समस्याओं का समाधान कर मानव-समाज का सर्वतोमुखी विकास करने के लिए मानव सेवा संघ का प्रमुख कार्यक्रम है—**सत्संग-योजना**। मानव सेवा संघ के सिद्धान्त में यही एक ऐसा कार्यक्रम है जिसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में क्रान्ति आ सकती है। क्रान्ति इस रूप में कि मानव होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति जीवन के इस सत्य को स्वीकार करे कि—

1. अपने विकास में वह सर्वथा स्वाधीन है।

2. प्रत्येक मानव में मानवता बीजरूप से विद्यमान है।

3. विद्यमान मानवता को विकसित करने में मानवमात्र समर्थ है।

4. अत: मानव-जीवन में जीवन की सफलता से निराश होने का कोई स्थान ही नहीं है।

सत्संग के द्वारा मानवमात्र साधननिष्ठ होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो सकता है। इस वास्तविकता को विभु बनाने के लिए मानव सेवा संघ की सत्संग-योजना है। मानव सेवा संघ हमें यह परामर्श देता है

कि हम अकेले अपने द्वारा अपने साथ व्यक्तिगत सत्संग करें, परिवार के साथ पारिवारिक सत्संग करें और समूह के साथ सामूहिक सत्संग करें एवं व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामूहिक जीवन की समस्याओं को हल कर लें।

मानव सेवा संघ व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण मानता है। मानव सेवा संघ विश्वास करता है कि एक व्यक्ति के मानव हो जाने पर सम्पूर्ण समाज सुधर सकता है। ईंट-पत्थर जोड़कर भवन बना लेना और बड़ी जनसंख्या का संगठन चला लेना कोई विशेष बात नहीं है। व्यक्ति के भीतर की सोई हुई मानवता को जगाना तथा व्यक्ति के जीवन को साधनयुक्त बनाकर उसे विकास के मार्ग पर चलाना मानव सेवा संघ का उद्देश्य है। इसलिए मानव सेवा संघ व्यक्ति के निर्माण में समस्त विश्व का कल्याण मानता है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त विश्वजनीन हैं। ये धार्मिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए युग-युग के अखिल विश्व के जन-समूह के जीवन में चरितार्थ होने योग्य हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार विकास के मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति अपने व्यक्तिगत विचार-स्वातन्त्र्य को सुरक्षित रख सकता है और साथ ही विश्व-जीवन की शृंखला अक्षुण्ण रख सकता है।

इस दृष्टि से मानव सेवा संघ के सिद्धान्तों में व्यक्तिगत विकास और सामाजिक उन्नति दो तथ्य नहीं हैं, वरन् एक ही जीवन के दो अनिवार्य पहलू हैं। जो सत्य मनुष्य के जीवन में आ जाता है वह विभु हो जाता है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन की निर्दोषता से समाज में निर्दोषता आती है और समाज की सेवा के माध्यम से व्यक्ति संसार से ऊपर उठता है। इसी विचार के अनुसार मानवमात्र का सांगोपांग विकास करने के लिए मानव सेवा संघ ने 11 नियम बनाये हैं।

4. मानव सेवा संघ के ग्यारह नियम

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।

6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी, पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहम् को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

11. व्यर्थ-चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

[द्रष्टव्य—प्रार्थना और इन ग्यारह नियमों की विस्तृत व्याख्या मानव सेवा संघ द्वारा प्रकाशित "मानवता के मूल सिद्धान्त" नामक पुस्तक में देखें।]

❑

5. 'मानव', 'सेवा' और 'संघ' की व्याख्या

"मानव"

मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है। जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत्त करने में समर्थ है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है।

साधन युक्त जीवन ही मानव जीवन है

जीवन का निरीक्षण करने पर हम अपने को अन्य प्राणियों की तुलना में विवेकी तथा विश्वासी पाते हैं। साथ ही अपने में देह-जनित स्वभावों की अनेक आसक्तियों का समूह भी देखते हैं। उन आसक्ति-जनित निर्बलताओं से पीड़ित होकर ही हम उन्हें मिटाने के लिए विवेक के प्रकाश में विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर जीवन को साधन-परायण बनाने का यत्न करते हैं। उस साधनयुक्त जीवन को ही मानव-जीवन कहते हैं।

साधन-रहित जीवन मानव-जीवन नहीं है और साधनातीत जीवन भी मानव-जीवन नहीं है। साधन-रहित जीवन तो पशु-जीवन है और साधनातीत जीवन दिव्य, चिन्मय एवं पूर्ण जीवन है। दूसरे शब्दों में मानव-जीवन वह जीवन है जिसमें दिव्यता, चिन्मयता और पूर्णता की लालसा एवं देहजनित स्वभाव अर्थात् इन्द्रिय-जन्य आसक्ति रूपी निर्बलताएँ दोनों एक साथ विद्यमान हैं।

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति तथा अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। दिव्यता, चिन्मयता, नित्यता

एवं पूर्णता की प्राप्ति मानव की स्वाभाविक आवश्यकता है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में सद्भाव होने से जो राग होता है, उससे प्रेरित होकर जिन इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, वे ही अस्वाभाविक इच्छाएँ हैं।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अस्वाभाविक इच्छा उसी की होती है, जिससे मानी हुई एकता और स्वरूप से भिन्नता हो। दिव्यता, चिन्मयता, नित्यता एवं पूर्णता हमें स्वभावत: प्रिय हैं, पर इन्द्रिय-जन्य विषयासक्ति ने उस स्वाभाविक आवश्यकता को ढक-सा लिया है और अस्वाभाविक इच्छाओं को उत्पन्न कर दिया है। इसके फलस्वरूप हम मानवता से विमुख होकर पशुता में प्रवृत्त तथा उसकी ओर अग्रसर होते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है। अत: जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता एवं स्वरूप की भिन्नता है उसकी निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

यद्यपि "है" कभी अप्राप्त नहीं है, परन्तु "नहीं", अर्थात् वस्तु आदि जिनसे केवल मानी हुई एकता है, उनकी आसक्ति से, जो वास्तव में प्राप्त है वह अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है, और जो प्राप्त नहीं है, अर्थात् जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, वह प्राप्त-जैसा प्रतीत होता है। जब मानव निज विवेक के प्रकाश में अपने को 'यह' से विमुख कर लेता है तब उसमें 'है' का योग, बोध तथा प्रेम स्वत: हो जाता है। बस, यही "है" की प्राप्ति है। इस प्रकार 'है' की प्राप्ति और 'नहीं' की निवृत्ति ही मानव जीवन की पूर्णता है।

"सेवा"

'सेवा' भाव है, कर्म नहीं। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति में योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुसार सेवा हो सकती है। सच्चे सेवक की दृष्टि में कोई 'और' नहीं है तथा कोई 'गैर' भी नहीं है। इसलिए सेवक का हृदय स्वभाव से ही दुखियों को देखकर करुणित तथा सुखियों को देखकर प्रसन्न हो जाता है। 'करुणा' सुख भोग की रुचि को और 'प्रसन्नता' खिन्नता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि का अन्त होते ही प्राप्त सुख-सामग्री दु:खियों के लिए स्वत: समर्पित होने लगती है और खिन्नता का अन्त होते ही कामनाओं का नाश अपने आप हो जाता है।

यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में तथा प्रेमी और प्रेमास्पद में सेवा ही एकता तथा अभिन्नता प्रदान करती है। सेवक अपना सुख देकर दूसरे के दु:ख को अपनाता है। यह नियम है कि जो दु:ख सुख देकर अपनाया जाता है वह अपने आप आनन्द से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से सेवक 'सेवा' होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है।

सेवा वही कर सकता है, जो कुछ भी अपना न माने। जो कुछ भी अपना मानेगा वह सेवा नहीं कर सकता। जो सेवा नहीं कर सकता वह प्यार भी नहीं कर सकता। जो सेवा नहीं कर सकता वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग भी नहीं कर सकता। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में ही प्रवेश होता है अत: सेवा में मानव-जीवन की सार्थकता निहित है। इस दृष्टि से सेवा साधनयुक्त जीवन का आवश्यक अंग है।

प्राकृतिक नियमानुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर स्वयं अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों की सेवा में अपना हित है। सेवा स्वार्थ-भाव को मिटा देती है, जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है। उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बड़ी सुगमतापूर्वक अपने ही में अपने वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है। इतना ही नहीं, सेवा द्वारा भौतिक-विकास भी स्वत: होता है। कारण कि सेवा सेवक को विभु बना देती है, अर्थात् सेवक समाज के हृदय में निवास करता है, क्योंकि सेवक में निर्वैरता स्वभाव से ही आ जाती है। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वत: आने लगते हैं।

अब विचार यह करना है कि सेवा का स्वरूप क्या है? सेवा दो प्रकार की होती है—एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक। बाह्य सेवा का अर्थ है प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा, बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के, सर्वहितकारी कार्य करना। पर यह तभी सम्भव होगा जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपनी न मानें, अपितु उसकी मानें जिसकी सेवा का सुअवसर मिला है। क्योंकि सृष्टि एक है, उसमें भेद करना प्रमाद है। अब यदि कोई यह कहे कि जब कोई वस्तु अपनी है ही नहीं और उसी की है कि जिसकी सेवा करते हैं, तब उसके नाम पर सेवा कैसे हो सकती है? तो कहना होगा कि बाह्य सेवा जिन साधनों से की जा रही है, यद्यपि वे साधन एक ही सृष्टि के हैं और जिनकी सेवा की जा रही है वे भी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं, तो भी जिस प्रकार शरीर के अवयव परस्पर एक-दूसरे की सेवा करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि से प्राप्त साधनों के द्वारा ही सृष्टि की सेवा की जा सकती है।

हाँ, यह अवश्य है कि जब सेवा द्वारा भेद गल जाता है तब 'करना' स्वतः 'होने' में बदल जाता है और आन्तरिक सेवा स्वतः होने लगती है। आन्तरिक सेवा के लिए किसी बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। उसमें तो सर्वहितकारी भाव विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करता है अर्थात् भाव के अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होने लगती है। सर्वहितकारी-भाव सर्वात्मभाव प्रदान करता है, अर्थात् सेवक सभी में अपने ही को अनुभव करता है। फिर 'सेवक', 'सेवा' और 'सेव्य' में अभिन्नता हो जाती है। यही सेवा की पराकाष्ठा है।

"संघ"

"मानव सेवा संघ" वाक्य में 'संघ' शब्द का अर्थ है ऐसे साधकों का संघ जो त्याग और प्रेम के आधार पर मिले हैं अथवा एकत्र हुए हैं, राग और द्वेष के आधार पर नहीं। अन्य संगठनों में प्रायः सुख की आशा से आशान्वित तथा दुःख के भय से भयभीत होकर प्राणी संगठित होते हैं। ऐसे संगठन विभिन्न वर्गों, देशों, दलों, पद्धतियों एवं विचारधाराओं (वादों) में संघर्ष उत्पन्न कर विजयी होने की भावना से बनते हैं, जिसकी प्रतिक्रिया स्थायी संघर्ष और भेद-भाव को जन्म देती है, जैसे मजदूर-संघ, व्यापारी-संघ, विद्यार्थी-संघ, अध्यापक-संघ आदि। परन्तु 'मानव सेवा संघ' अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा के आधार पर बना है। मानव सेवा संघ वैरभाव को निर्वैरता में और भेद को अभिन्नता में बदल देता है, जिससे व्यक्ति और समाज में एकता हो जाती है, क्योंकि समाज के अधिकारों का पुञ्ज ही व्यक्ति का अस्तित्व है। अपने अधिकार का त्याग ही वास्तविक त्याग है और दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही प्रेम निहित है। इस दृष्टि से त्याग तथा प्रेम राग-द्वेष का अन्त कर स्थायी शान्ति, निर्वैरता एवं एकता स्थापित करने में समर्थ है। बस, "मानव सेवा संघ" का यही पवित्र स्वरूप या अर्थ है और यही मानव सेवा संघ की मौलिक विशेषता है।

❑

6. मानव सेवा संघ का प्रतीक और उसकी व्याख्या

1. बाहरी वृत्त—समाज का प्रतीक है।

2. वृत्त के अन्दर त्रिभुज—मानवता-युक्त मानव का प्रतीक है।

जहाँ कहीं तीन बातें मिलकर किसी एक ही बात की पुष्टि करती हैं उसे तृत्व (Trinity) कहते हैं, अर्थात् तीन मिलकर एक और प्रतीक-विज्ञान (Science of Symbology) में तृत्व का प्रतीक माना गया है त्रिभुज।

मानव सेवा संघ की भाषा में मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है, अपितु जिस व्यक्ति में मानवता है वही मानव है। मानवता के निम्नलिखित तीन लक्षण हैं—

(i) विचार, भाव और कर्म की भिन्नता होते हुए भी स्नेह की एकता (प्रेम)।

(ii) अभिमानरहित निर्दोषता (त्याग)।

(iii) अपने अधिकार का त्याग एवं दूसरों के अधिकार की रक्षा (सेवा)।

3. मानवता के उपर्युक्त तीनों लक्षण प्रतीक में त्रिभुज के भीतर पाँच पदार्थों द्वारा अभिव्यक्त किये गये हैं।

(अ) अग्नि शिखा के तीन भाग—

(i) विचार शक्ति (ii) भाव शक्ति और (iii) क्रिया शक्ति के प्रतीक हैं। ये तीनों शक्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं और मनुष्य की व्यक्तिगत भिन्नता (Individual differences) इन तीनों की मौलिक भिन्नता पर ही आधारित है—

परन्तु मानव सेवा संघ इस भिन्नता के होते हुए भी स्नेह की एकता स्वीकार करता है जिसका प्रतीक है—सूर्य।

(ब) सूर्य स्नेह की एकता का प्रतीक है। वह विभिन्न स्वरूप, प्रकृति और कर्म वाले चराचर जगत् को समान स्नेह से देखता है और उन्हें समान रूप से ताप और प्रकाश देकर अपने स्नेह की एकता का परिचय देता है।

इस प्रकार तीन भागों में विभाजित अग्निशिखा और सूर्य दोनों मिलकर मानवता के प्रथम लक्षण "विचार, भाव और कर्म की भिन्नता होते हुए भी स्नेह की एकता सुरक्षित रखने की बात (प्रेम)" को अभिव्यक्त करते हैं।

(स) **जल**—निर्दोषता का प्रतीक है। मगर मानव सेवा संघ के दर्शन में निर्दोषता का भास सबसे बड़ा दोष है। अतः उसका परिहार करने के लिए, कमल का समावेश किया गया है।

(द) **कमल**—निरभिमानता और असंगता का प्रतीक है। इस प्रकार जल और कमल दोनों मिलकर मानवता के दूसरे लक्षण "अभिमान रहित निर्दोष जीवन (त्याग)" को प्रदर्शित करते हैं।

(य) **मानव हृदय**—मानवता के तीसरे लक्षण, "अपने अधिकार का त्याग तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा" का प्रतीक है।

मानव-शरीर-विज्ञान (Human Physiology) का यह वैज्ञानिक सत्य है कि शरीर में सबसे अधिक शुद्ध रक्त हृदय में होता है। हृदय इस शुद्ध रक्त को सम्पूर्ण शरीर की सेवा में प्रतिक्षण भेजता रहता है। वह उस शुद्ध रक्त में से अपनी शक्ति या खुराक के लिए रक्त की एक बूँद भी नहीं लेता, यद्यपि जीवित रहकर सम्पूर्ण शरीर की सेवा करने के

लिए उसे स्वयं अपने लिए भी शुद्ध रक्त की परम आवश्यकता है। वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए तो शरीर की उदारता पर निर्भर रहता है। शरीर की ओर से आने वाली रक्त नलिकाएँ (Coronary Arteries) जो शुद्ध रक्त हृदय को देती हैं उन्हीं से यह पोषण पाता है। प्रतीक में ये नलिकाएँ हृदय में प्रदर्शित हैं। इस प्रकार मानव-हृदय मानवता के उस लक्षण का प्रतीक है जो अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा (सेवा) में निहित है।

4. त्रिभुज के तीनों कोण (angles) समाज के प्रतीक वृत्त (circle) से तीनों स्थलों पर मिलते हैं। यही व्यक्ति और समाज की अविभाज्यता का प्रतीक है। (Individual is Inseparable from Society) इस प्रकार मानव सेवा संघ व्यक्ति और समाज के बीच अविभाज्य सम्बन्ध को स्वीकार करता है। उस अविभाज्य सम्बन्ध का क्रियात्मक रूप ही व्यक्ति द्वारा समाज की सेवा है अर्थात् व्यक्ति अपने तीन विशिष्ट गुणों द्वारा समाज की सेवा कर सकता है—

1. व्यक्ति की निर्दोषता से समाज निर्दोष होता है।

2. स्नेह की एकता से संघर्ष का नाश होता है।

3. अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और इन तीनों द्वारा अपना कल्याण भी होता है, अर्थात् हमें अपने कल्याण के लिए कुछ और करना है, और सुन्दर समाज के निर्माण के लिए कुछ और, ऐसी बात नहीं है, अपितु मानव सेवा संघ के दर्शन में जिस साधना से व्यक्ति का कल्याण होता है उसी से समाज का निर्माण भी होता है।

सारांश

निर्दोष जीवन, स्नेह की एकता, अपने अधिकार का त्याग एवं दूसरों के अधिकार की रक्षा (कर्त्तव्य-परायणता) ये मानवता के गुण अर्थात् लक्षण हैं और "मानवता में ही पूर्णता निहित है"—यही मानव सेवा संघ का आदर्श वाक्य है, जिसकी व्याख्या आगे की जा रही है।

मानवता में ही पूर्णता निहित है

मानवता मानवमात्र में बीजरूप से विद्यमान है। उसे विकसित करने की स्वाधीनता अनन्त के मंगलमय विधान से सभी को प्राप्त है। मानवता किसी परिस्थिति-विशेष की ही वस्तु नहीं है। उसकी उपलब्धि सभी परिस्थितियों में हो सकती है। उसकी माँग अपने लिए, जगत् के लिए एवं अनन्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मानवता में ही पूर्णता निहित है।

विवेक-विरोधी कर्म का त्याग, अर्थात् कर्त्तव्य-परायणता, विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग, अर्थात् असंगता और विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग, अर्थात् उसमें अविचल श्रद्धा जो इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का विषय नहीं है—यही मानवता का चित्र है। कर्त्तव्य-परायणता आ जाने से मानव-जीवन जगत् के लिए, असंगता प्राप्त होने से जीवन अपने लिए और अविचल श्रद्धापूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने से जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद है कि मानवता सभी की माँग है।

यह सभी को मान्य होगा कि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। इस कारण विद्यमान मानवता को विकसित करने के लिए विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग करना अनिवार्य है।

उसे बिना किये अमानवता का अन्त हो ही नहीं सकता। अमानव को पशु कहना पशु की निन्दा है, क्योंकि अमानवता पशुता से भी बहुत नीची है और मानव को देवता कहना मानव की निन्दा है, क्योंकि मानवतायुक्त मानव देवता से बहुत ऊँचा है, अथवा यों कहो कि मानवता देवत्व से बहुत ऊँची है और अमानवता पशुता से बहुत नीची। इस दृष्टि से अमानवता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अमानवता के नाश में ही मानवता निहित है।

निज विवेक के आदर में ही अमानवता का अन्त है। अतः विद्यमान मानवता को विकसित करने में प्रत्येक वर्ग, समाज और देश का व्यक्ति सर्वदा स्वाधीन है। मानवता किसी मत, सम्प्रदाय तथा वाद विशेष की ही वस्तु नहीं है, अपितु वह सभी को सफलता प्रदान करने वाली अनुपम विभूति है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता मानवता के बाह्यचित्र हैं और योग, बोध तथा प्रेम मानवता का अन्तरंग स्वरूप है। योग में सामर्थ्य, बोध में अमरत्व और प्रेम में अनन्त रस निहित है। सामर्थ्य, बोध, अमरत्व और अनन्त रस की माँग ही मानव की माँग है। इस दृष्टि से मानवता में ही पूर्णता निहित है।

❑

7. मानव सेवा संघ की सदस्यता

मानव सेवा संघ की सदस्यता का आधार मात्र अर्थ नहीं है। मानव सेवा संघ की सदस्यता उन जिज्ञासु साधकों को प्रदान की जाती है, जो संघ के उद्देश्यों और नियमों में आस्था रखता हो और सदस्यता स्वीकार करके अपने जीवन के कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माण में पूर्ण तत्परता से संलग्न हो जाए। कोई भी मानव जो अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण करना चाहता है, वह चाहे किसी जाति, धर्म एवं वर्ग का हो, मानव सेवा संघ का सदस्य हो सकता है।

मानव सेवा संघ की सदस्यता पाँच प्रकार की है—

1. वार्षिक सदस्य—वह होगा जो 11=00 रु० वार्षिक सदस्यता शुल्क देकर मानव सेवा संघ की सदस्यता ग्रहण करे।

2. आजीवन सदस्य—वह होगा जो 501=00 रु० आजीवन सदस्यता शुल्क देकर मानव सेवा संघ की सदस्यता ग्रहण करे।

3. दानी सदस्य—वह होगा जो 1111=00 रु० दानी सदस्यता शुल्क देकर मानव सेवा संघ की सदस्यता ग्रहण करे।

4. सहयोगी सदस्य—वह होगा जिसे शाखा की कार्यकारिणी समिति, जिसके वार्षिक सदस्यों की संख्या कम से कम 55 है, क्रियात्मक सहयोग के फलस्वरूप चालू वर्ष के लिए सहयोगी सदस्य मनोनीत करे और यह मनोनयन मानव सेवा संघ के महामन्त्री को स्वीकार हो।

5. माननीय सदस्य—वह होगा जिसको केन्द्रीय कार्यकारिणी के परामर्श से आजीवन कार्यकर्त्ता समिति के अध्यक्ष सम्मानार्थ आजीवन सदस्य मनोनीत करें।

विशेष—सभी प्रकार के सदस्यों की न्यूनतम आयु 18 वर्ष होगी।

❑

8. मानव सेवा संघ की इकाइयाँ तथा शाखा सभाएँ

भारत के विभिन्न प्रदेशों में मानव सेवा संघ की इकाइयाँ तथा शाखा सभाएँ स्थापित हैं।

इकाइयों और शाखा सभाओं के नियम संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

1. इकाइयाँ

पाँच सदस्यों की एक इकाई होगी। किसी भी स्थान पर पाँच सदस्यों की एक इकाई बन जाने पर दैनिक और साप्ताहिक सत्संग का कार्यक्रम आरम्भ किए जाने का नियम है।

2. शाखा-सभा

11 इकाइयाँ अर्थात् 55 सदस्य बन जाने पर उस स्थान पर एक शाखा-सभा बन सकती है।

जो महानुभाव अपने यहाँ 55 सदस्य बनाकर मानव सेवा संघ की शाखा सभा स्थापित करना चाहें उन्हें रसीद-बुक, विधान आदि आवश्यक सामग्री के लिए "महामन्त्री मानव सेवा संघ वृन्दावन" से पत्र व्यवहार करना चाहिए।

स्मरणीय

मानव सेवा संघ में शाखा सभाओं की स्वीकृति इस आधार पर दी जाती है कि वे संघ के प्रवर्त्तक द्वारा स्थापित आदर्शों की पूर्ति के लिए कार्य करें।

मानव सेवा संघ में 'सत्संग' सभी सेवा-प्रवृत्तियों का मूल आधार ही नहीं अपितु उसका प्राण है। सभी शाखा सभाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रथमत: एवं अनिवार्यत: सत्संग-योजना को प्राथमिकता एवं महत्ता प्रदान करें क्योंकि सत्संग के बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव है और न व्यक्ति का कल्याण ही सम्भव है जो कि मानव सेवा संघ का मूल उद्देश्य है।

❑

9. मानव सेवा संघ के आश्रम

(1) मानव सेवा संघ आश्रम, वृन्दावन (मथुरा)

(2) मानव सेवा संघ, निर्माण निकेतन आश्रम, ग्राम एवं पो० बोडिया, जिला राँची, झारखण्ड

(3) मानव सेवा संघ–निवारणपुर आश्रम पो० हिनू, जिला राँची, झारखण्ड

(4) मानव सेवा संघ–प्रेम निकेतन आश्रम पो० दुर्गापुरा, जयपुर पिन–302018 (राजस्थान)

(5) मानव सेवा संघ–आरोग्य आश्रम–गोरा बाजार, गाजीपुर–पिन 233001 (उत्तर प्रदेश)

(6) मानव सेवा संघ, जागृति आश्रम, बिठूर जि० कानपुर देहात, पिन 209201 (उत्तर प्रदेश)

आश्रमों का संक्षिप्त परिचय

1. मानव सेवा संघ आश्रम, वृन्दावन

यह आश्रम ब्रजक्षेत्र के प्रमुख तीर्थ स्थल, बालकृष्ण की क्रीडा-भूमि श्री वृन्दावन धाम में मथुरा वृन्दावन रोड पर स्थित है। इस आश्रम की स्थापना 26 फरवरी, 1952 को ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज द्वारा हुई। यह मानव सेवा संघ (पंजीकृत संस्था) का मुख्यालय एवं मानव-सेवा संघ की नानाविध सेवा-प्रवृत्तियों एवं बहुआयामी गतिविधियों का केन्द्र है।

यहाँ नित्य-प्रति प्रातः एवं सायं सत्संग की बैठकें होती हैं। प्रत्येक एकादशी को प्रातः 8 से 9 तक सत्संग की एक और बैठक होती है। प्रतिवर्ष होली पर यहाँ मानव सेवा संघ का वार्षिक अधिवेशन होता है। श्रावणी एवं दीपावली पर विशेष सत्संग समारोह होते हैं। वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने के लिए सभी गणमान्य सदस्य एवं भारत के अनेक प्रदेशों में फैली मानव सेवा संघ की शाखाओं के प्रतिनिधि एवं कार्यकर्त्ता एवं सभी आश्रमों के पदाधिकारी आकर सक्रिय सहयोग प्रदान करते हैं।

इस आश्रम में निम्नलिखित सेवा-प्रवृत्तियाँ संचालित हैं—

(1) साधक-सेवा (2) चिकित्सा-सेवा
(3) अन्न क्षेत्र (सदाव्रत-सेवा) (4) गौ-सेवा
(5) शीतल जल-सेवा (6) वृक्ष-सेवा

2. मानव सेवा संघ-निर्माण निकेतन आश्रम, राँची

यह आश्रम झारखण्ड प्रदेश में राँची नगर से 13 किमी० दूर उत्तर-पूर्व दिशा में ग्राम एवं पोस्ट बोड़िया में स्थित है। इस आश्रम की स्थापना 6 फरवरी, 1956 को हुई थी। यह आश्रम प्राकृतिक शोभायुक्त सुहावने वातावरण में है, जहाँ साधक मूक सत्संग तथा शान्ति सम्पादन कर साधन का निर्माण कर सकते हैं। इस आश्रम में सुरम्य उद्यान हैं जिसमें अनेक फलदार वृक्ष लगे हुए हैं। आश्रम में ट्यूबवैल की व्यवस्था है। यहाँ प्रतिदिन सत्संग की बैठक होती है तथा विद्यार्थियों को सेवा सहायता प्रदान की जाती है। यहाँ एक गौशाला भी है।

3. मानव सेवा संघ निवारणपुर आश्रम, राँची (झारखण्ड)

मानव सेवा संघ के कार्यकर्त्ताओं, प्रेमियों तथा राँची के निवासियों के प्रयास से राँची शहर में तपोभूमि श्री राम मन्दिर के पास यह आश्रम स्थित है। यहाँ की जमीन बहुत उपजाऊ है। साधकों के निवास हेतु पर्याप्त स्थान है तथा उपयोगी उद्यान है।

4. मानव सेवा संघ—प्रेम निकेतन आश्रम, जयपुर

सन् 1957 में स्थापित यह आश्रम जयपुर शहर से लगभग 10 किमी० दूर दुर्गापुरा बस्ती के पास स्थित है। यहाँ प्रतिदिन प्रातः और सायं सत्संग की बैठकें नियमित रूप से होती हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक रविवार और प्रत्येक एकादशी को सत्संग की विशेष बैठक प्रातः 8 से 9 तक होती है।

आश्रम द्वारा संचालित सेवा-प्रवृत्तियों का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है—

प्रेम निकेतन आश्रम की प्रमुख गतिविधियाँ—

1. प्रेम निकेतन आश्रम (साधक आश्रम)
2. गौशाला
3. स्कूल (बाल मन्दिर)
4. अस्पताल
5. वृद्धाश्रम (वरिष्ट नागरिक आवास)
6. जैरियाट्रिक-कम-नर्सिंग केयर सेन्टर।

1. प्रेम निकेतन आश्रम (साधक आश्रम)

इस आश्रम में लगभग 25 साधक निवास करते हैं। प्रातः तथा सायंकाल सत्संग एवं विचार विनिमय होता है तथा समय-समय पर विभिन्न आध्यात्मिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

शीघ्र ही नवीन 'सत्संग भवन' का निर्माण किये जाने की योजना है।

2. प्रेम निकेतन गौशाला

वर्तमान में स्वस्थ व दुधारु 12 गउएँ तथा 1 साँड हैं। भविष्य में 12 गाएँ और बढ़ाने की योजना है, जिससे वृद्धाश्रम, अस्पताल व नर्सिंग केयर के निवासियों को शुद्ध दूध का लाभ मिल सके। साथ ही शीघ्र ही गऊशाला के नवीनीकरण की योजना भी बनाई गई है ताकि अधिक हवादार व स्वच्छ कमरों की व्यवस्था हो सके।

3. प्रेम निकेतन स्कूल

स्कूल में आर्थिक रूप से कमजोर परिवार के बच्चों को शिक्षा प्रदान की जाती है। बच्चों को लाने तथा ले जाने के लिए एक ऑटो रिक्शा की व्यवस्था है। वर्तमान में स्कूल नर्सरी से आठवीं कक्षा तक है और विद्यार्थियों की संख्या 250 है।

भविष्य में स्कूल को दसवीं कक्षा तक करने की योजना है।

4. प्रेम निकेतन अस्पताल व रिसर्च सेन्टर

इस अस्पताल में कुल 50 बैड हैं तथा स्थायीरूप से 9 डॉक्टर हैं जो कि विभिन्न रोगों के विशेषज्ञ हैं। दस डॉक्टर 'ऑन कॉल' बुलाये जाते हैं। यह अस्पताल नवीनतम चिकित्सा संयंत्रों से युक्त है। इसमें

वातानुकूलित व अत्याधुनिक संयन्त्रों से सुसज्जित ऑपरेशन थियेटर हैं, जिसमें सभी प्रकार के ऑपरेशन होते हैं। इस अस्पताल में आउटडोर व इनडोर दोनों प्रकार की सुविधा है।

अस्पताल में नि:शुल्क चिकित्सा शिविर समय-समय पर आयोजित किये जाते हैं जिससे सैंकड़ों गरीब परिवारों के लोग लाभान्वित होते हैं। शिविर में जयपुर तथा आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों से रोगियों को लाने तथा ले जाने की नि:शुल्क व्यवस्था के साथ ही चिकित्सा, भोजन, ठहरने आदि की भी नि:शुल्क व्यवस्था की जाती है।

5. 'शुभ-शान्ति निवास' (वरिष्ठ नागरिक आवास)

वर्तमान समय में जहाँ परिवार छोटी-छोटी इकाइयों में बँट चुका है वहाँ सन्तान पढ़-लिख कर बड़ी-बड़ी नौकरियों के लिए शहर या देश से बाहर चली जाती है और पीछे रह जाते हैं बुजुर्ग माता-पिता, जिनके पास साधन होने के बावजूद भी हारी-बीमारी में देखभाल करने की कोई व्यवस्था नहीं होती।

इन्हीं परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उक्त 'शुभशान्ति निवास' की योजना बनाई गयी ताकि जीवन के अन्तिम पड़ाव में व्यक्ति स्वयं को असहाय महसूस न करे।

वर्तमान में 'शुभ शान्ति निवास' में सात कमरे हैं जो सम्पूर्ण सुविधाओं से युक्त हैं तथा कॉमन (सम्मिलित) भोजनालय व किचन की सुविधा है।

शीघ्र ही कुछ और कमरे व एक स्वाध्याय कक्ष बनाने की योजना है।

वर्तमान में सातों कमरों में बुजुर्ग व्यक्ति (वरिष्ठ नागरिक) रह रहे हैं।

6. जैरियाट्रिक-कम-नर्सिंग केयर सेन्टर

वृद्धावस्था जीवन का अन्तिम पड़ाव किन्तु अनिवार्य अंग है। इस उम्र में व्यक्ति किसी-न-किसी रोग से ग्रस्त रहता है। वर्तमान समय में भागम-भाग एवं अति व्यस्तता के जीवन में सन्तानों को इतना समय नहीं होता कि वे अपने बुजुर्ग माता-पिता की सेवा के लिए पर्याप्त समय निकाल सकें व सुविधा दे सकें।

हमारे सामने ऐसी अनेक घटनाएँ एवं दुःखद अनुभव आए जिसके परिणामस्वरूप जैरियाट्रिक कम नर्सिंग केयर सेन्टर का निर्माण किया गया।

इस सेन्टर में बीमार व बुजुर्ग महिलाओं व पुरुषों के लिए अलग-अलग वार्ड हैं। साथ ही प्राइवेट कमरों की भी व्यवस्था है। चौबीस घण्टे नर्सिंग स्टाफ व डॉक्टरों की सेवा उपलब्ध है।

वर्तमान में इस सेन्टर में 3 ऐसे रोगी हैं जो शारीरिक रूप से पूरी तरह असमर्थ हैं। इनको नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने, दवा समय पर देने, व्यायाम, घुमाना आदि सभी सेवाये कर्मठ व सेवानिष्ठ कर्मचारी एवं डॉक्टरों के सहयोग से की जाती है। इन बुजुर्ग एवं असहाय रोगियों की सेवा अत्यन्त तृप्तिदायक कार्य है, जोकि अनुभूति का विषय है।

5. मानव सेवा संघ, आरोग्य आश्रम, गोरा बाजार, गाजीपुर (उ० प्र०)

सन् 1950 में स्थापित इस आश्रम में एक नेत्र-चिकित्सालय सेवारत है, जो अत्याधुनिक उपकरणों से सुसज्जित है। इस आश्रम में एक शल्य चिकित्सालय तथा एक बाह्य रोगी विभाग भी सेवारत है। चिकित्सालय में प्रतिवर्ष अक्तूबर से मार्च तक अनेक नेत्र-शिविरों का आयोजन किया जाता है जिनमें वाराणसी के ख्याति-प्राप्त शल्य-चिकित्सक अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं। इस चिकित्सालय की इकाई के रूप में एक नेत्र संग्रह केन्द्र (Corneal Transplant Centre) भी स्थापित किया गया है।

6. मानव सेवा संघ, जागृति आश्रम, बिठूर (कानपुर)

महर्षि वाल्मीकि की तपस्थली, बिठूर में पुण्यसलिला भागीरथी के तट के समीप यह आश्रम स्थित है। इसमें साधकों के निवास के लिए कुछ कुटियाँ बनी हुई हैं। एक बड़ा सत्संग हॉल भी बन गया है। इस आश्रम में सत्संग योजना के साथ-साथ रोगी-सेवा, वृक्ष-सेवा, सेवा प्रवृत्तियाँ भी संचालित हैं।

❑

10. मानव सेवा संघ के आजीवन कार्यकर्त्ता तथा स्थायी (निष्ठावान) साधक

किसी भी संस्था का सुचारु रूप से संचालन करने तथा संस्था के उद्देश्यों की सफलतापूर्वक पूर्ति के लिए समर्पित एवं जीवनदानी कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। जब तक सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर सेवा करने वाले व्यक्ति किसी संस्था की सेवा स्वीकार नहीं करते हैं, तब तक संस्था द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सजीव तथा विभु नहीं हो पाते और न संस्था के द्वारा मानव जाति की समुचित सेवा ही होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव सेवा संघ में आजीवन कार्यकर्त्ताओं का एक विभाग है, जो आजीवन कार्यकर्त्ता समिति द्वारा संचालित होता है। आजीवन कार्यकर्त्ता बनने के पूर्व संघ का निष्ठावान स्थायी साधक होना अनिवार्य है।

आजीवन कार्यकर्त्ता का वास्तविक स्वरूप अलिंग संन्यास है। आजीवन कार्यकर्त्ता मानव सेवा संघ का प्राणस्वरूप है। मानव सेवा संघ एक साधन प्रणाली है। इसके अनुसार, जिस साधक की जैसी बनावट है, उसी के अनुरूप परामर्श देकर उसके साधन निर्माण का प्रयास किया जाता है। इस साधन-निर्माण की प्रणाली को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा संघ की सुरक्षा तथा सेवा के लिए अधिक से अधिक साधकों का आजीवन कार्यकर्त्ता होना आवश्यक है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक साधक में बीजरूप में साधन तत्त्व विद्यमान है। उस विद्यमान साधन तत्त्व को विकसित करने में सहयोग देना मानव-समाज की सबसे बड़ी सेवा है, जो मानव सेवा संघ का मुख्य उद्देश्य है।

ऐसे साधक जो मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में आस्था रखते हैं, अपने जीवन को साधननिष्ठ बनाने में संलग्न हैं उन निष्ठावान साधकों के लिए मानव-सेवा संघ की सेवा का व्रत अनिवार्य न होने पर भी उनके साधननिष्ठ जीवन से संघ की सेवा स्वत: होती है। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ अपने निष्ठावान स्थायी साधकों को अपना महत्त्वपूर्ण अंग मानता है। ऐसे निष्ठावान साधक संघ के आश्रमों में रहकर अपना साधन निर्माण करते हैं। उनमें से वे साधननिष्ठ साधक जो सर्वहितकारी मानव सेवा संघ की सेवा में अपना जीवन लगाना पसन्द करें वे मानव सेवा संघ के आजीवन कार्यकर्त्ता हो सकते हैं।

कोई भी वयस्क व्यक्ति, जो मानव सेवा संघ की विचारधारा और साधन प्रणाली में आस्था रखता हो, वह मानव सेवा संघ का स्थायी (निष्ठावान) साधक हो सकता है। जो निष्ठावान स्थायी साधक अपने सम्पूर्ण जीवन को साधनयुक्त बना कर अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण तथा मानव में विद्यमान मानवता को विकसित करने के लिए मानव सेवा संघ की विचारधारा को विभु एवं कार्यान्वित करने में तत्पर हो वह आजीवन कार्यकर्त्ता समिति के अध्यक्ष को जीवनदानी आजीवन कार्यकर्त्ता बनने के लिए आवेदन-पत्र प्रस्तुत कर सकता है।

आजीवन कार्यकर्त्ताओं का जीवन-व्रत

मानव सेवा संघ के विधान और नीति का मन, वचन, कर्म से पालन करना प्रत्येक आजीवन कार्यकर्त्ता के लिए अनिवार्य होगा।

उसके जीवन के निम्नलिखित व्रत होंगे—

(क) जितेन्द्रिय एवं संयमी होकर आजीवन सदाचार एवं नैतिकता का पालन करना।

(ख) अपना पूरा समय और अपनी पूरी शक्ति मानव सेवा संघ के उद्देश्य की पूर्ति में लगाना।

(ग) व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपार्जन न करना।

(घ) मानव सेवा संघ की विचारधारा को समझने और जीवन में उतारने का पूरा प्रयास करना।

(ङ) आजीवन सेवा एवं अनुशासन के पालन का व्रत लेना।

स्थायी साधक के लिए आवश्यक व्रत

मानव सेवा संघ का स्थायी साधक होने के लिए बड़ी आवश्यक बात यह है कि साधक को दृढ़ निश्चय हो जाए कि साध्य से अभिन्नता अर्थात् योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति सत्संग के द्वारा होती है, किसी अभ्यास के द्वारा नहीं।

स्थायी साधक के लिए मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली में निष्ठा रखने की अनिवार्य आवश्यकता है। किसी परम्परा अथवा किसी अभ्यास के द्वारा साधन-निर्माण का कोई प्रश्न ही नहीं है। उसका यह व्रत होना चाहिए कि—

(क) वह सत्संग के द्वारा अपने साधन का निर्माण करे, किसी अभ्यास को अपने साधन का आधार न बनाए।

(ख) किसी न किसी नाते सभी को अपना माने। उसके द्वारा मन, वचन, कर्म से किसी का अहित न हो।

(ग) अपने अधिकार का त्याग करने के लिए सदैव तत्पर रहे।

(घ) इन्द्रिय लोलुपता से जितेन्द्रियता की ओर तथा स्वार्थ-भाव से सर्वहितकारी प्रवृत्ति की ओर बढ़ता रहे।

स्थायी साधक के कर्त्तव्य

1. सेवा, सार्थक चिन्तन एवं जितेन्द्रियता उसके साधन के मुख्य अंग हैं।
2. अपने कल्याण की बात को सबसे अधिक महत्त्व देता है। जो इसके लिए सतत जागरूक और प्रयत्नशील नहीं है, वह स्थायी साधक होने का अधिकारी नहीं हो सकता है। उसकी सबसे बड़ी साधना यही है कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसमें गहरी वेदना जग जाए, अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति के बिना वह किसी प्रकार चैन से न रहे।

पुराने राग की निवृत्ति के लिए किसी न किसी सेवा-प्रवृत्ति में भाग लेना स्थायी साधक के लिए आवश्यक है परन्तु उसके लिए मानव सेवा संघ के आश्रम में निवास करना अनिवार्य नहीं है। वह जहाँ भी रहे, अपने साधन-निर्माण के साथ-साथ यथासम्भव यथासामर्थ्य निकटवर्त्ती जन समाज की क्रियात्मक सेवा करे। सर्वहितकारी कार्यों में हाथ डालने से पहले उसे अपने को साधक स्वीकार करना अनिवार्य होगा। अन्यथा सेवा के बदले वह सम्मान का भोगी बन सकता है। मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार यदि अन्य सेवा करें तो अधिकार-लोलुपता को छोड़कर सेवा करें। तभी उस सेवा से आपका कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होगा।

❑

11. मानव सेवा संघ का दर्शन

'मानव सेवा संघ' जैसा कि सर्वविदित है, साधकों का संघ है जिसका आदर्श वाक्य है "मानवता में ही पूर्णता निहित है।"

संघ का उद्घोष है "सर्वश्रेष्ठ जीवन/वास्तविक जीवन प्राप्त करना मानव मात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है।"

जो मेरे पास है, वह मेरी नहीं है, मेरे लिए नहीं है, जो मेरे पास नहीं है वह मुझको नहीं चाहिये। (अप्राप्त की कामना न करें)।

दुःख निवृत्ति, परमशान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम सभी को अभीष्ट है, और उसकी मौलिक माँग है।

मानव जीवन की पूर्णता इसी में है, कि उसका शरीर जगत् के काम आ जाए, उसका हृदय प्रभु प्रेम से भर जाए तथा त्याग द्वारा वह स्वाधीन होकर आत्मसंतुष्ट हो जाए।

शरीर विश्व के काम आ जाए
अहम् अभिमान शून्य हो जाए
हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाए

अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव करना अनन्य भक्ति है।

सत्संग ही मानव का स्वधर्म है तथा परम पुरुषार्थ है। सत्संग का अर्थ है, जीवन के सत्य को स्वीकार करना। जीवन के सत्य को स्वीकार करने पर कर्त्तव्यपरायणता, असंगता तथा आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है,

और फिर मानव योग बोध तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है। जीवन के सत्य को स्वीकार करने में देश काल जाति मत मान्यता सम्प्रदाय आदि की भिन्नता कोई अर्थ नहीं रखती है। त्याग, विवेक और प्रीति के द्वारा मानव मानव बनता है।

मानव जीवन कर्त्तव्य का प्रतीक है। अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। दूसरों को अधिकार देने से और उनके अधिकार की रक्षा से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होगा। और अपना अधिकार त्याग देने से अपने लिए उपयोगी होगा। मानव सेवा एक किसी मत-सम्प्रदाय आदि का आग्रही या विरोधी नहीं है वह जीवन विज्ञान का आदर करते हुये मानव मात्र को कर्त्तव्यनिष्ठ होने की प्रेरणा देता है। जीवन-दर्शन का आदर करते हुये यह सभी को देहातीत अविनाशी तत्त्व से अभिन्न होकर परम स्वाधीन जीवन पाने की प्रेरणा देता है। अपने विकास द्वारा समस्त विश्व का विकास सम्भव है, और मानवता ही वास्तविक जीवन है।

मानव सेवा संघ प्राप्त वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के सदुपयोग का पाठ पढ़ाता है। उन्हें परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश करने का अमर संदेश देता है।

व्यक्तिगत भिन्नता के तथ्य को स्वीकार करता हुआ मानव सेवा संघ प्रीति तथा साध्य की एकता में आस्था रखता है। इसी आधार पर संघ यह प्रेरणा देता है कि हम व्यक्तिगत विचार का अनुसरण करें और

सभी अन्य विचारधाराओं का आदर करें। भिन्नता रहते हुये भी प्रीति की एकता स्वीकार करें। मानव सेवा संघ की यह मान्यता है कि—

— प्रत्येक मानव में मानवता बीजरूप में विद्यमान है।

— विद्यमान मानवता को विकसित करने में मानवमात्र समर्थ है।

— अपने विकास में वह सर्वथा स्वाधीन है।

— सत्संग के द्वारा मानव मात्र साधननिष्ठ होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो सकता है।

— एक व्यक्ति के मानव हो जाने पर सम्पूर्ण समाज सुधर सकता है क्योंकि व्यक्ति के निर्माण में ही समस्त विश्व का कल्याण है।

सेवा, त्याग तथा प्रेम द्वारा रागद्वेष का अन्त कर स्थायी शान्ति, निर्वैरता एवं एकता स्थापित हो सकती है—यही मानव सेवा संघ का पवित्र स्वरूप है और यही उसका दर्शन है।

❑

12. मानव सेवा संघ की नीति

नीति का पालन मनुष्य के व्यवहार को सुन्दर और सुविधाजनक बनाता है, इसको सभी नीतिज्ञ मानते और जानते हैं। व्यावहारिक जीवन को आदर्श के अनुरूप चलाने के लिए नीति का अनुसरण अनिवार्य है।

मानव सेवा संघ ने भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु कुछेक नीतियों का प्रतिपादन किया है। संघ के प्रणेता द्वारा जो नीतियाँ प्रतिपादित हैं, वे सृष्टा के मंगलमय विधान से अनुप्राणित तथा सर्वहितकारी भाव से भावित हैं। ये जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध रखते हुए विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में मार्ग-दर्शन करती हैं।

संघ की प्रत्येक नीति मानव दर्शन की ठोस भूमि पर आधारित है और मानव जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध रखने वाली है कि किसी भी एक नीति का सर्वांशत: पालन किया जाए तो जीवन में से असाधन का पूर्णत: नाश होकर सहज रूप से निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो सकती है।

मानव सेवा संघ द्वारा प्रतिपादित कुछेक नीतियाँ इस प्रकार हैं—

1. व्यक्ति सदैव ही निज विवेक का आदर करे। विवेक का प्रकाश मानव मात्र का जन्मजात विधान है। निज विवेक का आदर करना मानव जीवन की समस्याओं के समाधान की एक सुन्दर नीति है।

2. वर्तमान सभी का निर्दोष है। जीवन मूलत: निर्दोष ही है, जब वह कोई दोष करता है, तभी दोषी होता है। जब वह दोष करना छोड़ देता है तो मौलिक निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। 'मेरा वर्तमान निर्दोष है' यह मान लेने पर व्यक्ति आत्मग्लानि से बच जाता है और उसे अपना जीवन

निर्दोष बनाने एवं सामूहिक जीवन में निर्दोषता का प्रसार करने का अचूक अवसर प्राप्त हो जाता है। इस नीति का पालन व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में अत्यन्त उपयोगी है।

3. अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रखना—मानव सेवा संघ का कथन है कि आन्तरिक एकता के बिना बाह्य एकता कुछ अर्थ नहीं रखती है। प्रीति की एकता ही आन्तरिक एकता है। यदि हमें सभी प्रकार के संघर्षों का अन्त करके मानव समाज में सुदृढ़ एकता स्थापित करना अभीष्ट है तो प्रीति की एकता को सुरक्षित रखना ही होगा। प्रीति की एकता स्वीकार करते ही प्राप्त बल का सदुपयोग स्वत: होने लगता है और सदुपयोग होते ही पारस्परिक भेद-भिन्नता तथा निर्बलता सदा के लिए मिट जाती है। प्रीति की एकता में ही समाज का विकास निहित है।

4. अपने सुख-दु:ख का कारण दूसरों को मत मानो—अपने दु:ख का कारण दूसरों को मानना दु:ख में आबद्ध होना ही है और इससे दु:ख निवृत्ति का प्रश्न कभी हल नहीं हो सकता।

जब व्यक्ति अपने दु:ख का कारण किसी और को नहीं मानता है, तथा उसके लिए जीवन में से द्वेष की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है, हृदय में प्रीति की गंगा लहराने लगती है, और वैरभाव का नाश हो जाता है, और समता, मुदिता, निर्भयता एवं निर्वैरता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति होती है।

इसी प्रकार अपने सुख का आधार दूसरों को मानने वाला व्यक्ति राग में आबद्ध हो जाता है। जिसको वह सुखरूप मानता है, उसकी आसक्ति में बँधा हुआ घोर पराधीनता का दु:ख भोगता है।

अत: अपने सुख-दु:ख का कारण कभी भी दूसरों को नहीं मानना चाहिए।

5. करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहना—

(क) मानव जीवन में कार्यक्षमता 'किसी' की दी हुई है, और 'उसी' ने विवेक का प्रकाश भी दिया है। अत: कार्यक्षमता का सदुपयोग बड़ी ही सावधानी से विवेक के प्रकाश में देखकर करना चाहिए।

(ख) प्रवृत्ति का सम्बन्ध समूह से है। सामूहिक सहयोग के बिना किसी भी कार्य का सम्पादन सम्भव नहीं है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने अपने कार्य को सावधानीपूर्वक करता रहे तो सहज ही सामाजिक अव्यवस्था मिट जाए और सारा समूह ही उन्नतिशील हो जाए।

(ग) जो कर्त्ता अपने लक्ष्य को जाने बिना कार्य में प्रवृत्त होता है उसकी प्रवृत्ति सावधानीपूर्वक नहीं होती है। वर्तमान की असावधानी कालान्तर में बहुत ही दु:खद फल उत्पन्न करने वाली बन जाती है। इससे मुक्त रहने के लिए कर्त्ता को वर्तमान में प्रत्येक प्रवृत्ति को करने में सावधान होना अनिवार्य है।

(घ) सही प्रवृत्ति के फलस्वरूप कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति में सहज निवृत्ति की शान्ति अभिव्यक्त होती है। अत: साधक के लिए प्रत्येक प्रवृत्ति को राग-निवृत्ति का साधन मानकर सावधानीपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। राग-निवृत्ति की शान्ति में ही योग, बोध व प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, और इसी में जीवन की पूर्णता है।

सृष्टि में जो कुछ हो रहा है, वह सृष्टिकर्त्ता के विधान के अनुसार हो रहा है। इस तथ्य पर दृष्टि जाते ही 'जो हो रहा है' वह स्वाभाविक लगने लगता है, और मंगलमय प्रभु का विधान मानकर उसमें प्रसन्न रहने लगता है।

इस प्रकार उपर्युक्त की प्रत्येक नीति मानव जीवन के लिए साधन रूप है, और उनके द्वारा व्यक्ति का विकास अवश्यम्भावी है।

❑

13. मानव सेवा संघ की आचार-संहिता

(1) निज-विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। उस विधान के अधीन बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को कर्म में लगाना है, अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का उपयोग वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म में विवेक के प्रकाश में ही करना है। निज-विवेक का प्रकाश अविवेक का नाशक है। अविवेक के नष्ट होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर कर्त्तव्य-पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इस दृष्टि से विवेकयुक्त मानव ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं। अत: विवेक-विरोधी कर्म का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

(2) प्रत्येक कर्म कर्त्ता का ही चित्र है। अत: कर्त्ता की सुन्दरता तथा असुन्दरता का परिचय उसके किये हुए कर्म से ही व्यक्त होता है। सुन्दर कर्त्ता के बिना सुन्दर कार्य सम्भव नहीं है। कर्त्ता वही सुन्दर हो सकता है जिसका कर्म 'पर' के लिए हितकर सिद्ध हो तथा किसी के लिए अहितकर न हो। अत: कार्यारम्भ से पूर्व यह विकल्प-रहित निर्णय कर लेना चाहिए कि उस कार्य का मानव-जीवन में स्थान ही नहीं है, जो किसी के लिए भी अहितकर है। अहितकर कार्य का अर्थ है कि जो किसी के विकास में बाधक हो।

(3) कोई भी कर्म कर्म-विज्ञान के विरुद्ध करने से सांगोपांग सिद्ध न होगा। अत: प्रत्येक कर्म उस कर्म की विधि से ही करना चाहिए, जो विज्ञान-सिद्ध है। कर्म-विज्ञान के विरुद्ध किया हुआ कर्म फलदायक नहीं

होता। कर्म के बाह्य रूप में कर्म सम्बन्धी ज्ञान की अपेक्षा है। अत: प्रत्येक कर्त्ता को कार्यारम्भ से पूर्व उस कार्य-सम्बन्धी ज्ञान का सम्पादन अनिवार्य है।

(4) कर्म-विज्ञान के अनुसार सम्पादित कार्य यदि पवित्र भाव से न किया गया, तो उसमें सरसता नहीं आयेगी। सरसता के बिना कार्य यन्त्रवत् होगा। मानव की माँग जहाँ कर्म-विज्ञान सहित कार्य करने की है, वहीं कार्य की मधुरता भी उसे अभीष्ट है। अत: मानव को प्रत्येक कार्य पवित्र भाव से भावित होकर करना अनिवार्य है।

(5) कर्म वही सार्थक सिद्ध होता है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण तथा करने के राग की निवृत्ति हो, अर्थात् कर्त्ता राग-रहित हो जाय और उसके द्वारा किया हुआ कर्म सुन्दर समाज के निर्माण के लिए विधान बन जाय। अत: प्रत्येक कर्म मानव को सुन्दर समाज के निर्माण तथा राग-रहित होने के उद्देश्य ही से करना अनिवार्य है।

(6) प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन का दायित्व तब तक रहता ही है, जब तक कर्त्ता के जीवन से अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्प नष्ट न हो जाएँ, आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट न जाएँ, सहज भाव से निर्विकल्पता न आ जाए, अपने-आप आयी हुई निर्विकल्पता से असंगता न हो जाए तथा असंगतापूर्वक प्राप्त स्वाधीनता को समर्पित कर जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाए। कर्त्तव्य-पालन से अपने को बचाना भूल है। अत: प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप मानव का कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

(7) आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख की दासता से तथा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण से एवं असंगता द्वारा सम्पादित

स्वाधीनता से सन्तुष्ट न रहने पर, प्रेम की अभिव्यक्ति अपने-आप होती है। अत: जब तक जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाए, तब तक सावधानीपूर्वक उपर्युक्त क्रमानुसार दायित्व पूरा करना अनिवार्य है।

(8) प्रत्येक कर्म का सम्बन्ध किसी-न-किसी अंश में सामूहिक है, व्यक्तिगत नहीं। यदि कार्य-सम्बन्धी सभी कर्मचारी अपने-अपने स्थान पर ठीक न होंगे, तो कर्म का चित्र उतना सुन्दर न होगा, जितना हो सकता है। इस कारण प्रत्येक कर्त्ता को अपने-अपने स्थान पर ठीक बना रहना अनिवार्य है। सामाजिक विधान की दृष्टि से कार्य का प्रधान कर्त्ता एक ही माना जाता है, यद्यपि कर्त्ता होते अनेक हैं। प्रधान कार्यकर्त्ता को अपने कर्म के फल में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। फलासक्ति कर्त्ता के लिए हितकर नहीं होती। किन्तु फलासक्ति का प्रलोभन न रहने पर भी कार्य बड़ी ही सावधानी से, पूरी शक्ति लगाकर, पवित्र भाव से करना अनिवार्य है। कार्य का प्रत्येक भाग अपने-अपने स्थान पर समान अर्थ रखता है। अत: कर्त्तव्य-कर्म में कोई कार्य बड़ा, छोटा, ऊँचा और नीचा है—यह भाव सर्वदा त्याज्य है। प्रधान कार्यकर्त्ता अपने सभी साथियों को सावधान रखे, उनकी भूल से अपनी भूल के समान दुखी हो और कार्य की सिद्धि में साथियों का ही श्रेय स्वीकार करे। तभी कार्य सर्वाङ्ग सुन्दर हो सकता है। कार्य की सफलता को व्यक्तिगत सफलता समझना भूल है। उसका श्रेय उन सभी को है, जो उस कार्य के अंग हैं।

(9) प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी कार्य का सम्पादन करने के लिए कार्य-सम्बन्धी एक समूह निर्माण करना पड़ता है। जिस समूह में परस्पर विश्वास नहीं होता, वह समूह अपने कार्य में सफल नहीं होता। परस्पर विश्वास सुरक्षित रखने के लिए दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक,

मासिक और वार्षिक विचार-विनिमय करना अनिवार्य है। विनिमय करने की विधि में अपनी-अपनी भूल सामने रखना है और अपने ही कर्त्तव्य का निर्णय करना है।

(10) प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म अपने-अपने स्थान पर महान् है। परन्तु कब? जब कर्म के पीछे जो भाव है वह पवित्र हो, भाव के पीछे जो ज्ञान है वह उद्देश्य-पूर्ति में हेतु हो और उद्देश्य वह हो जिसके आगे और कोई उद्देश्य न हो। अत: प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म द्वारा अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति अनिवार्य है।

(11) अपवित्र उपाय से पवित्र उद्देश्य-पूर्ति की आशा करना भूल है, क्योंकि की हुई अपवित्रता मिटाई नहीं जा सकती और उसके परिणाम से भी बचा नहीं जा सकता। अपितु अपवित्र उपाय का परिणाम पवित्र उद्देश्य को मलीन बना देगा। अंत: पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्र उपाय का अनुसरण अनिवार्य है।

(12) जिस कार्य का सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके बिना किए किसी प्रकार रह न सकें, जिसके सम्पादन के साधन उपलब्ध हों, जिससे किसी का अहित न हो, ऐसे सभी कार्य आवश्यक कार्य हैं। आवश्यक कार्य को पूरा न करने से और अनावश्यक कार्य का त्याग न करने से, कर्त्ता उद्देश्य-पूर्ति में सफल नहीं होता। अत: मानवमात्र को अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य का सम्पादन करना अनिवार्य है।

(13) विवेक-विरोधी कर्म किसी भी परिस्थिति में नहीं करना है। किन्तु यदि कोई ऐसा कार्य है, जो किसी व्यक्ति-विशेष के लिए आवश्यक है, पर जिस समूह में व्यक्ति रहता है, उस समूह के व्यावहारिक नियम के प्रतिकूल है, तो ऐसी परिस्थिति में समूह के बहुमत द्वारा व्यक्ति-विशेष के विशेष अधिकार की रक्षा करना आवश्यक है।

(14) भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए कर डालो। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन करने से वर्तमान कार्य में सफलता न होगी और उसके हुए बिना भविष्य भी उज्ज्वल नहीं रहेगा। अत: वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म पूरा करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

(15) प्रत्येक कार्य पवित्र भाव से भावित तथा निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, तभी कार्य में सरसता आएगी और कर्त्ता करने के राग से रहित होगा। अत: प्रत्येक कार्य सावधानीपूर्वक, पवित्र भाव से करना अनिवार्य है।

(16) अस्वाभाविक दशा में किया हुआ कार्य उपयोगी सिद्ध नहीं होता। कारण, कि अस्वाभाविकता कर्त्ता को अस्त-व्यस्त कर देती है, जिसके होने से कार्य का उद्देश्य, कार्य करने का ढंग और पवित्र भाव की विस्मृति हो जाती है। अत: प्रत्येक कार्य का सम्पादन स्वाभाविकता में ही करना अनिवार्य है।

(17) मानव मात्र में क्रिया, भाव तथा विवेक विद्यमान है। इस कारण विवेक के प्रकाश से प्रकाशित भाव और पवित्र भाव से भावित कर्म सिद्धिदायक है। वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को किये बिना क्रिया-शक्ति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। यह नियम है कि मिली हुई वस्तु का सदुपयोग न करने से उसकी आसक्ति का नाश नहीं होता। अत: मानव मात्र को करने के राग से मुक्त होने के लिए पवित्र भाव से वर्तमान कार्य करना अनिवार्य है।

(18) मिली हुई सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु का दुरुपयोग करना भूल है। अत: मानव मात्र को मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

(19) प्राकृतिक नियमानुसार आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति मिली हुई वस्तुओं के सदुपयोग में निहित है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता में ही दरिद्रता का नाश है। मिली हुई वस्तुओं को व्यक्तिगत मान लेना अपने को वस्तुओं की दासता अर्थात् लोभ में आबद्ध करना है। लोभ की उत्पत्ति होते ही दरिद्रता अपने-आप आ जाती है। पर इस रहस्य को वे ही विज्ञानवेत्ता जानते हैं, जिन्होंने उस विधान की खोज की है, जिससे वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि निर्लोभता के बिना आर्थिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है।

(20) अपने से वस्तुओं को अधिक महत्त्व देना दरिद्रता का आह्वान करना है। स्वयं-प्रकाश जीवन पर-प्रकाश्य वस्तुओं के अधीन हो जाए, इससे बढ़कर असावधानी और कुछ नहीं है। वस्तुओं की दासता ने ही आवश्यक वस्तुओं के अभाव को जन्म दिया है। अत: वस्तुओं की दासता के नाश में ही आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति निहित है। पर यह रहस्य वे ही तत्त्ववेत्ता जानते हैं, जिन्होंने वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश पाया है।

(21) प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी मनुष्य के पास व्यक्तिगत कोई वस्तु नहीं है। कारण, कि जो शरीर प्राप्त है, वह भी समष्टि भौतिक पदार्थों से निर्मित है। उस मिले हुए शरीर के सदुपयोग द्वारा आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। कारण, कि शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से ही वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। यदि उनका संग्रह तथा उनसे ममता न की जाए और उनका दुरुपयोग भी न किया जाए, तो मंगलमय विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं। अत: दरिद्रता का अन्त करने के लिए मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग अनिवार्य है।

(22) वस्तुओं को सिक्के में बदलने से संग्रह की भावना उत्पन्न होती है। संग्रह होते ही मिथ्या अभिमान, आलस्य, अकर्मण्यता और विलासिता का जन्म होता है, जो व्यक्ति के सर्वनाश का हेतु है। उस संग्रह के कारण समाज में भी विप्लव उत्पन्न हो जाता है। अतः सिक्के में अर्थ-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्रम का महत्त्व बढ़ाए बिना आलस्य, संग्रह तथा अकर्मण्यता नष्ट न होगी और उसके हुए बिना शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का सदुपयोग न होगा एवं मिथ्या अभिमान भी नष्ट न होगा, जो दरिद्रता का मूल है।

(23) प्राकृतिक विधान के अनुसार जिसकी वास्तव में उपयोगिता अपेक्षित है, उसकी रक्षा के साधन अपने-आप प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से जीवन की उपयोगिता में ही समस्त विकास निहित है। श्रम, संयम, सदाचार और सेवा द्वारा जीवन जगत् के लिए एवं त्याग द्वारा अपने लिए और पवित्र प्रेम के द्वारा अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। अतः जीवन को उपयोगी बनाने में ही अभावों का अभाव निहित है।

(24) जब तक श्रम का उपयोग शरीर के पोषण और सजाने में तथा सिक्कों के संग्रह में ही किया जाएगा, तब तक दरिद्रता नष्ट न होगी। श्रम का उपयोग समाज के लिए उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में ही है।

(25) संयम तथा सदाचार के बिना श्रम उपयोगी सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से श्रम के आदि और अन्त में संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। सदाचार संयम का ही क्रियात्मक रूप है और सदाचारयुक्त प्रवृत्ति ही समाज की सेवा है। समाजसेवा की भावना ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग की रुचि नष्ट होती जाती है। सर्वांश में

सुख-भोग की रुचि का नाश होते ही दु:ख का भय तथा सुख का प्रलोभन मिट जाता है, जिसके मिटते ही सुखी और दु:खी में एकता हो जाती है और फिर दरिद्रता की गन्ध भी नहीं रहती।

(26) जिसने व्यक्तिगत सुख के लिए ही शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग किया है, उसी ने व्यक्ति और समाज की एकता भंग की है, जिसके होने से सर्वात्म-भाव सुरक्षित नहीं रहा और व्यक्ति अभिमान तथा दीनता में आबद्ध हो गया। इस कारण आर्थिक विषमता सुदृढ़ हो गयी। अत: शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग समाज के हित में ही करना अनिवार्य है। तभी आर्थिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है।

(27) बालक, रोगी, वृद्ध और पशु—इनकी सेवा का दायित्व मानव-मात्र पर है। इनकी यथेष्ट सेवा किए बिना न तो दरिद्रता ही नाश होगी और न समाज आवश्यक वस्तु से ही परिपूर्ण होगा। अत: संग्रहीत सम्पत्ति रोगी, बालक, वृद्ध तथा पशुओं की ही है।

(28) मिली हुई वस्तुओं की ममता का त्याग, अप्राप्त वस्तुओं की कामना का त्याग तथा मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग करने पर प्राकृतिक विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वत: प्राप्त होने लगती हैं। कारण, कि निर्लोभतायुक्त उदारता दरिद्रता को खा लेती है।

(29) लोभ से ही दरिद्रता का जन्म होता है। अव्यक्त से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। 'उसमें' अभाव नहीं है। तो फिर आवश्यक वस्तुओं का अभाव कैसा? इस कारण यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यदि मानव उदारता को अपनाए और आलस्य तथा अकर्मण्यता का त्याग कर डाले, तो आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप प्राकृतिक विधान से मिलने लगेंगी। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने अनन्त के मंगलमय विधान का अध्ययन किया है।

(30) यह सभी को विदित होगा कि जो पशु जिस देशकाल में उत्पन्न होते हैं, उनकी रक्षा प्रकृति की गोद में स्वत: होती है। इससे यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि रक्षा का दायित्व किसी विधान में निहित है। परन्तु बुद्धिमान मानव प्रकृति के विधान का आदर न करके प्रकृति का भोग करता है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि वस्तुओं का अभाव है और वस्तुओं में उत्तरोत्तर शक्ति की कमी होती जाती है। यह वस्तु-विज्ञान से सिद्ध है।

(31) उत्पत्ति, रक्षा और विनाश विधान के अधीन हैं। कोई भी वस्तु किसी भी व्यक्ति को अमर नहीं बनाती। यदि ऐसा होता, तो कुछ प्राणी अवश्य अविनाशी हो जाते। यदि विनाश को नवीन उत्पत्ति का साधन मानकर विनाश का भय नष्ट कर दिया जाए और वस्तुओं का उपयोग रक्षा में हो, विलास में नहीं, जीवन का उपयोग कर्त्तव्य में हो, अकर्त्तव्य में नहीं, तो प्रकृति का मंगलमय विधान रक्षार्थ आवश्यक वस्तु, शक्ति एवं योग्यता स्वत: प्रदान करता है। अत: कर्त्तव्य-परायणता आवश्यक वस्तुओं की जननी है।

(32) प्रकृति साधक को जो कुछ देती है, उससे अतीत के जीवन की ओर अग्रसर करने के लिए वह दिए हुए को अपने में विलीन कर लेती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। किन्तु मानव मिले हुए की आसक्तियों के कारण उन्हें सुरक्षित रखने की सोचता है, ममता-रहित होकर उसका सदुपयोग नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि लोभ, मोह

आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके होने से प्राणी न तो मिले हुए का सदुपयोग ही कर पाता है और न वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश ही। अत: वस्तुओं के विनाश से भयभीत होना वस्तुओं की दासता को सुरक्षित रखना है और कुछ नहीं। वस्तुओं की दासता दरिद्रता की जननी है।

(33) प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना ने लोभ को जन्म दिया। लोभ ने अर्थ का मूल्य बढ़ा दिया और उसने सच्चरित्रता का अपहरण कर लिया, जिसके होते ही परिस्थिति-परिवर्तन में अभिरुचि जाग्रत हो गई। प्रकृति से मिली हुई परिस्थिति के सदुपयोग पर दृष्टि न रही। उसका परिणाम यह हुआ कि वस्तुओं में ही जीवन-बुद्धि हो गई, जिसने मानव को 'मानव' नहीं रहने दिया। कारण, कि वस्तुओं के आधार पर ही समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन होने लगा। इस कारण बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम अर्थ के अधीन हो गये, जिसके होते ही परस्पर में अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हो गए। आवश्यक वस्तु-प्राप्ति के विधान को भूलकर व्यक्ति विधान-विरोधी उपायों द्वारा अर्थ का संग्रह करने लगे। संग्रह नाश का हेतु है, अर्थात् संग्रही प्राणी अपनी मृत्यु का आप आह्वान करता है। अत: मानव-जीवन में अर्थ की दासता का कोई स्थान ही नहीं है। अर्थ समाज की धरोहर है और कुछ नहीं।

(34) जब मानव-समाज बालकों और रोगियों की यथेष्ट सेवा नहीं करता, तब भावी समाज के मन में एक विद्रोह उत्पन्न होता है, जो उस प्रवृत्ति को जन्म देता है, जिससे सुखी और दु:खी में संघर्ष होने लगता है। सुखी उदारता एवं दु:खी त्याग के बल को अपना नहीं पाता। दु:खी में तृष्णा और सुखी में लोभ की वृद्धि होती रहती है, जो अनर्थ का मूल है।

यदि मानव-समाज प्रत्येक बालक को अपना बालक मान ले और रोगियों की सेवा का दायित्व व्यक्ति पर न रहकर सामूहिक हो जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक विद्रोह की भावना मिट सकती है।

(35) प्राकृतिक नियम के अनुसार संग्रहीत सम्पत्ति समाज के उसी वर्ग की है, जो वर्ग उपार्जन में असमर्थ है, अथवा जिन्हें अवकाश नहीं है। जो वर्ग उपार्जन में समर्थ है, उसका अधिकार संग्रहीत सम्पत्ति पर नहीं है। अत: रोगियों, बालकों और सत्य की खोज में रत व्यक्तियों की सेवा संग्रहीत सम्पत्ति द्वारा करना अनिवार्य है।

(36) समाज का जो वर्ग उत्पादन में समर्थ है, वह यदि वर्तमान उपयोगिता से अधिक संग्रहीत सम्पत्ति का अधिकारी अपने को मान लेता है, तब उसके जीवन में मिथ्या अभिमान, आलस्य तथा विलास की उत्पत्ति हो जाती है, जो उसके सर्वनाश में हेतु है।

(37) उपार्जन करने वाले वर्ग को अपने दैनिक श्रम का कुछ भाग उस वर्ग के लिए अवश्य ही समर्पित करना चाहिए, जो वर्ग उपार्जन में असमर्थ है।

(38) अपने श्रम का पूरा मूल्य अपने पर व्यय करना, अथवा मनमाने ढंग से विवेक-विरोधी कार्यों में लगाना अनर्थ है। कारण, कि प्रत्येक व्यक्ति समाज के सहयोग से ही पोषित होता है। उस काल का ऋण उपार्जन-काल में चुकाना अनिवार्य है।

(39) व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान सामूहिक सम्पत्ति की सुरक्षा अनिवार्य है और उसका सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है। किन्तु सुख-भोग की दृष्टि से किसी भी सम्पत्ति का व्यय नहीं करना है, हित की दृष्टि से करना है। किसी को हानि पहुँचाकर किसी की सेवा करना, सेवा

नहीं है, अपितु भोग है। भोग के राग का नाश करने के लिए मर्यादित भोग करना है। यदि विचारपूर्वक भोग-वासना नष्ट हो जाए, तो भोग-प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है। भोग की वास्तविकता जानने के लिए ही मर्यादित भोग अपेक्षित है। अतः वस्तुओं का सम्पादन व्यक्तियों की सेवा में है, अपने सुख-भोग में नहीं। स्वार्थ-भाव का अन्त हुए बिना निर्लोभता की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना दरिद्रता का नाश नहीं हो सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

(40) मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में भाग लेना और उत्पादित वस्तुओं को विश्व की सेवार्थ व्यय करना दरिद्रता के नाश का सुगम उपाय है।

(41) मिली हुई वस्तुओं को व्यक्तिगत मान लेना और उनके उपयोग द्वारा उत्पादित वस्तुओं का संग्रह करना, अथवा वस्तुओं को सिक्के के रूप में परिवर्तित करना दरिद्रता का आह्वान करना है।

(42) दरिद्रता किसी परिस्थिति-विशेष में नहीं है; अपितु तृष्णा की वृद्धि में ही है। यदि मानव मिली हुई वस्तुओं का दुरुपयोग न करे, तो आवश्यक वस्तुएँ अनन्त के मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती हैं। वस्तुओं की दासता तथा उनके दुरुपयोग ने ही दरिद्रता को जन्म दिया है।

(43) अपने से अधिक सम्पन्न व्यक्ति को देख कर प्रसन्न न होना, अपितु अपने व्यक्तिगत जीवन में अभाव की अनुभूति कर क्षुब्ध होना, अपने को दरिद्रता से मिला लेना है, अथवा यों कहो कि अपने जीवन में दरिद्रता की स्थापना करना है।

(44) अपेक्षाकृत भाव और अभाव की अनुभूति प्रत्येक परिस्थिति में विद्यमान है। इस दृष्टि से समस्त परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं।

विचारशील साधक अर्थ को अपनाकर अपने को परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर लेते हैं। परिस्थितियों की दासता से मुक्त होते ही उनके सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वत: आ जाती है और फिर अभाव और भाव दोनों का सदुपयोग बड़ी ही सुगमता से हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है और दरिद्रता का नाश सदा के लिए हो जाता है।

(45) जिस प्रकार व्यक्तिगत विकास से पारिवारिक विकास स्वत: होता है, उसी प्रकार निकटवर्ती जन-समाज के विकास से नागरिकों का विकास स्वत: होता है। अत: अपने पड़ौसी के हित का ध्यान अपने समान ही रखना आवश्यक है।

(46) अपने दु:ख से दूसरों को दु:खी करना, अपने दु:ख को बढ़ाना है और दूसरों के दु:ख से दु:खी होना, अपने दु:ख को मिटाना है। दु:ख का पूरा प्रभाव होने पर उसके कारण का ज्ञान स्वत: हो जाता है, जिसके होते ही दु:ख के नष्ट करने की सामर्थ्य अपने-आप आ जाती है। इस दृष्टि से दु:ख स्वयं दु:ख के नाश का साधन है। अत: दु:ख आने पर भयभीत होना भूल है। दु:ख के प्रभाव में ही दु:ख का नाश निहित है।

(47) प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राणि-मात्र का उद्‌गम एक है और सभी की स्थिति भी एक ही में है। अत: विनाश भी सभी का एक ही में है। इस दृष्टि से हम सब एक हैं। अत: परस्पर में प्रीति की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है।

(48) प्रीति की एकता स्वीकार करते ही प्राप्त बल का सदुपयोग स्वत: होने लगता है। कारण, कि प्रीति बल का उपयोग अहितकर कार्यों में नहीं होने देती। अत: बल का व्यय उपयोगी कार्यों में ही होने लगता

है, जिसके होते ही भेद, भिन्नता तथा निर्बलता सदा के लिए मिट जाते हैं। अत: प्रीति की एकता में ही समाज का विकास निहित है।

(49) ज्ञान के अनुरूप भाव और सद्भाव के अनुसार व्यवहार स्वत: होता है। अत: निज-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित पवित्र भाव सुरक्षित करना अनिवार्य है।

(50) किसी-न-किसी नाते हम सब एक हैं और इन्द्रिय-ज्ञान की दृष्टि से अनेक हैं। अनेक मानने पर भी सभी में एक ही का दर्शन करना और परस्पर कुटुम्बी जनों की भाँति सम्बोधन करना नागरिकता की जागृति में परम साधन है।

(51) आदर तथा प्यार की भूख प्राणि-मात्र को है और उसके आदान-प्रदान की सामर्थ्य मानव-मात्र में है। परन्तु किसी गुण-विशेष के दर्शन बिना आदर तथा प्यार देने की अभिरुचि नहीं होती। मानव यह भूल जाता है कि गुणों के आधार पर दिया हुआ आदर तथा प्यार अपनी निर्बलता का परिचय है, आदर तथा प्यार नहीं। अत: जिसकी भूख स्वाभाविक है उसका देना बिना किसी हेतु के आवश्यक है।

(52) अहितकर चेष्टाओं का अन्त हो जाने पर हितकर चेष्टाएँ यथाशक्ति स्वत: होने लगती हैं। इतना ही नहीं, क्रिया सीमित होने पर भी सर्व-हितकारी सद्भाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है, जिससे जो करना चाहिए, वह होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। अत: विवेकपूर्वक अहितकर चेष्टाओं का निरोध आवश्यक है।

(53) अपने निर्माण में समाज का विकास निहित है; क्योंकि सुन्दर व्यक्तियों के पीछे ही समाज चलता है। की हुई भूल न दोहराने से अपना

निर्माण स्वत: हो जाता है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। अत: अपने निर्माण के लिए सतत प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है।

(54) अपने कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माण का जो विधान है, उसको अपना लेना परम आवश्यक है। विधान की अधीनता पराधीनता नहीं है, अपितु स्वाधीनता है। कारण, कि विधान मानव को ह्रास से विकास की ओर अग्रसर करता है। अत: विधान के आदर में ही जीवन का आदर निहित है।

(55) विधान उसे नहीं कहते, जो जीवन नहीं है। विधान और जीवन में भिन्नता विधान के वास्तविक स्वरूप को न जानने से है। जिस प्रकार भूमि द्वारा प्रत्येक पौधा विकास पाता है, उसी प्रकार विधान द्वारा सभी का विकास होता है।

(56) उस विधान का बोध उन्हीं को होता है, जो विवेक का अनादर नहीं करते हैं। अत: निज-विवेक का आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

(57) अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान जिस ज्ञान में है, वही ज्ञान मानव का वास्तव में पथ प्रदर्शक है। अत: शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का व्यवहार निज-ज्ञान के प्रकाश में करना अनिवार्य है।

(58) ज्ञान-विरोधी व्यवहार करना प्रमाद है। प्रमादयुक्त की हुई प्रवृत्ति सभी के लिए अहितकर है। जो सभी के लिए अहितकर है, उसका त्याग अनिवार्य है।

(59) कर्त्तव्य-विज्ञान के दो भाग हैं—जिन प्रवृत्तियों में सभी का हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं है, उनका त्याग सभी के लिए अनिवार्य

है। जिन प्रवृत्तियों के द्वारा मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय होता है, उन प्रवृत्तियों को करना सभी के लिए परम आवश्यक है।

(60) जिन प्रवृत्तियों का त्याग करना अनिवार्य है, उनका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जैसे—किसी के ह्रास में अपना विकास, किसी के अनादर में अपना आदर, किसी की निर्बलता में अपना बल और किसी की हानि में अपना लाभ मानना। अतः किसी के अहित में अपने हित का दर्शन करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(61) व्यक्तिगत रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य का भेद होने पर भी वास्तविक उद्देश्य मानवमात्र का एक है। योग्यता आदि का भेद होने से दायित्व में भेद है, किन्तु उद्देश्य की एकता होने से प्रीति में भेद नहीं है। अतः विभिन्न मत, सम्प्रदाय, वाद होने पर भी परस्पर प्रीति की एकता सुरक्षित रखना अनिवार्य है।

(62) प्रत्येक मत, सम्प्रदाय और वाद की उत्पत्ति व्यक्तिगत तथा सामाजिक भूलों को मिटाने के लिए होती है। किसी भी मत तथा वाद का जन्म अपने और दूसरों के अहित के लिए नहीं है, अपितु व्यक्तियों का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण ही सभी मतों तथा वादों का मुख्य उद्देश्य है, प्रत्येक मत तथा वाद साधन-दृष्टि से आदरणीय तथा माननीय है, किन्तु उनकी ममता व्यक्तियों को पागल बना देती है। औषधि का सेवन आरोग्य के लिए अपेक्षित है, ममता के लिए नहीं। उसी प्रकार मत, सम्प्रदाय आदि की अपेक्षा परिस्थिति के अनुरूप अपने को सुन्दर बनाने में है, परस्पर संघर्ष के लिए नहीं। अपने-अपने मत, वाद की प्रशंसा करें और उससे अपने को सुन्दर न बनाएँ, इस प्रमाद से न तो अपना कल्याण

होगा और न सुन्दर समाज का निर्माण ही। अतः मत तथा वाद की आवश्यकता अपने को सुन्दर बनाने के लिए है, प्रचार के लिए नहीं। समाज को सुन्दरता की माँग है, किसी मत-वाद की नहीं। इस दृष्टि से सुन्दर जीवन में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है।

(63) समस्त विश्व दर्पण के तुल्य है। उसमें मानव अपने ही चित्र को देखता है। यदि ऐसा न होता, तो एक ही विश्व के सम्बन्ध में अनेक मत न होते। समस्त विश्व प्रेमियों को प्रेमास्पद, तत्त्ववेत्ताओं को अपना ही स्वरूप एवं जिज्ञासुओं को तत्त्व-ज्ञान की अभिव्यक्ति-मात्र ही प्रतीत होता है। देहाभिमानी को सारा जगत् मृत्यु के रूप मे ही प्रतीत होता है, विलासियों को क्रीड़ास्थली और सदाचारियों को संयम का मन्दिर भासता है। है क्या? उसे कोई क्या कहे। जैसा द्रष्टा है, वैसा ही दृश्य है। ऐसा न होता, तो द्रष्टा तथा दृश्य का सम्बन्ध ही न होता। अतः विश्व में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति परम आवश्यक है।

(64) प्रत्येक व्यक्ति अपने को सुन्दर बनाने के लिए किसी-न-किसी मत और वाद को अवश्य अपनाएगा। आंशिक एकता भी किसी-न-किसी रूप में सभी के साथ रहेगी। जिस प्रकार सभी की भूख और तृप्ति एक है; किन्तु भोजन में भेद है, उसी प्रकार प्रत्येक मत-वाद की साधन-प्रणाली में भेद और एकता दोनों ही अपेक्षित हैं। परन्तु जब तक मानव अपने मत, सम्प्रदाय एवं वाद के अनुसार अपने को सुन्दर बनाकर इनकी सीमाओं से अतीत नहीं हो जाएगा, तब तक उसके जीवन में पूर्णता की अभिव्यक्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से सम्प्रदाय, मत-वाद की आवश्यकता एकमात्र अपने को सुन्दर बनाने के लिए ही है। अतः योग्यता-भेद होने पर भी व्यक्तिगत कार्यक्रम को सामूहिक बनाने का

प्रयास सर्वदा निरर्थक ही सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, अपितु वह अनेक प्रकार के अनर्थों को ही जन्म देता है। शान्ति तथा एकता सुरक्षित रखने के लिए अपने-अपने मत-वाद का अनुसरण और दूसरों के मत-वाद का आदर करना अनिवार्य है।

(65) किसी भी मत, सम्प्रदाय एवं वाद के दो अनुयायियों में भी सर्वांश में एकता नहीं होती, किन्तु विकास की ओर अग्रसर होने वाले सभी व्यक्तियों में आंशिक एकता अवश्य होती है। कारण, कि अहितकर प्रवृत्तियों तथा भावनाओं को नष्ट करना सभी के लिए अनिवार्य होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सफलता के लिए एकता तथा भिन्नता दोनों ही आवश्यक हैं। भिन्नता के बिना व्यक्तिगत रुचि, योग्यता और सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं हो सकता और एकता के बिना असीम, अनन्त, नित-नव प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अत: भिन्नता के द्वारा मिले हुए का सदुपयोग और एकता के द्वारा परम प्रेम की प्राप्ति करना अनिवार्य है।

(66) अनेक प्रकार की पारस्परिक भिन्नता एकता सम्पादन में साधनरूप है। पर यह रहस्य वे ही तत्त्वदर्शी जानते हैं, जिन्होंने यह भली-भाँति अनुभव किया है कि दर्शन भले ही अनेक हों, पर जीवन तो एक ही है।

यदि परस्पर भिन्नता एकता का साधन न होती, तो किसी के कर्त्तव्य में किसी का अधिकार निहित न होता। अत: दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग कर अनेकता में एकता का दर्शन अनिवार्य है।

(67) अनन्त के मंगलमय विधान के अनुसार न्याय निर्दोषता का और प्रेम अभिन्नता का प्रतीक है। अत: अपने बनाये हुये दोषों का अन्त करने के लिए अपने प्रति न्याय और काल्पनिक भेद को नष्ट करने के लिए अन्य के प्रति प्रेम करना अनिवार्य है।

(68) पद्धति-परिवर्तन से वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता, परन्तु दोष-जनित प्रवृत्ति का प्रतिकार करने के लिए प्रत्येक पद्धति के बाह्यरूप में किसी-न-किसी प्रकार का भेद स्वीकार करना पड़ता है, आन्तरिक वास्तविकता ज्यों-की-त्यों रहती है। बाह्यभेद के आधार पर आन्तरिक वास्तविकता को भूल जाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत: प्रत्येक पद्धति में जो मूल तत्त्व है, उनको अपनाना और बाह्यभेद के आधार पर संघर्ष को जन्म न देना अनिवार्य है।

(69) बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने और कराने के लिए वाद, मत, सम्प्रदाय आदि का समयानुसार प्रादुर्भाव होता है। किन्तु प्रमादवश प्राणी मत, वाद आदि के बाह्य रूप में तो अपने को आबद्ध कर लेता है और बल का सदुपयोग एवं विवेक का आदर करना भूल जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि मत, वाद आदि का सम्बन्ध मानव के जीवन से नहीं रहता। जिसका सम्बन्ध जीवन से नहीं रहता, उसमें अस्वाभाविकता आ जाती है, जिसके आते ही मत, सम्प्रदाय एवं वाद के बाह्यरूप का दुराग्रह व्यक्तियों में रह जाता है और जिस उद्देश्य के लिए मत, वाद और सम्प्रदाय को अपनाया जाता है, वह पूरा नहीं हो पाता। अत: मानव-मात्र को बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करना अनिवार्य है।

(70) बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपना कल्याण निहित है। कारण, कि बल का सदुपयोग करने पर दो व्यक्तियों, दो देशों में एकता स्वत: हो जाती है। और विवेक का आदर करने पर कर्त्तव्य का ज्ञान तथा कर्त्तव्य-परायणता एवं असंगता आ जाती है, जिसके आते ही दिव्य-चिन्मय जीवन में प्रवेश अपने-आप हो जाता है। इस दृष्टि से मानवमात्र को प्रत्येक परिस्थिति में बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से अपने को बचा लेना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना किसी का भी विकास होना सम्भव नहीं है। बल का दुरुपयोग निर्बलता को और विवेक का अनादर प्रमाद को जन्म देता है।

(71) विधान और राष्ट्र में एक बड़ा अन्तर यह है कि मानव यदि विधान का आदर अपने-आप करने लगे, तो उसे राष्ट्र की आवश्यकता ही न हो; किन्तु सुख के प्रलोभन तथा दु:ख के भय से व्यक्ति विधान का आदर नहीं करता। उसको कराने के लिए ही राष्ट्र का जन्म होता है। राष्ट्र सामूहिक बल का प्रतीक है और कुछ नहीं। बलपूर्वक विधान को मनवाना ही राष्ट्र-प्रणाली है। प्रत्येक राष्ट्र अपने देश का अपना बल है। उसको सुरक्षित रखने का दायित्व प्रत्येक देशवासी पर है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र के आदेश का पालन करना अनिवार्य है।

(72) राष्ट्र का आदेश विवेकवित् महापुरुषों द्वारा समर्थित होना चाहिए, क्योंकि विवेकीजन ही वास्तविक कर्त्तव्य से परिचित होते हैं। विधान-निर्माण का अधिकार किसी राष्ट्र को नहीं है, अपितु वीतराग पुरुषों को है। राष्ट्र विधान का पालन कराने में प्रयत्नशील हो सकता है; किन्तु विधान वही बना सकता है, जिसका जीवन विधान हो। उसी का जीवन

विधान हो सकता है, जिसने निज-विवेक के प्रकाश में अपने को राग-रहित कर लिया है और जिसके जीवन से ममता तथा वैर-भाव का नाश हो गया है। ऐसे मानव प्रत्येक देश में इने-गिने हो सकते हैं। विधान-निर्माताओं को राष्ट्र का संचालक कभी नहीं होना चाहिए। वे राष्ट्र को विधान के रूप में प्रकाश देते रहें। राष्ट्र के बनाए हुए विधान से और विधान-निर्माताओं द्वारा राष्ट्र का संचालन होने से कभी भी देश में वास्तविक एकता सुरक्षित नहीं रह सकती। अत: राष्ट्र के संचालक और विधान-निर्माता, इन दोनों का अलग-अलग होना अनिवार्य है।

(73) राष्ट्र का निर्माण समाज के उन व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए, जिन्होंने क्रियात्मकरूप से जन-समाज की सेवा की है, अर्थात् सेवा करने वालों के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण ठीक-ठीक हो सकता है। पर उन्हें स्वयं राष्ट्र-संचालक नहीं होना चाहिए। वे राष्ट्र और प्रजा के बीच में श्रद्धा और विश्वास को बढ़ाते रहें। प्रजा में राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और राष्ट्र में प्रजा के प्रति प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यह कार्य समाज-सेवी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता है।

(74) सेवा करने वाले महानुभावों में जो ऐसे महामानव हैं, जिनका जीवन सेवा और प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; जिनमें-से सेवक होने का अभिमान भी गल गया है, वे ही अनन्त के मंगलमय विधान को भली-भाँति जानते हैं। जो विधान अनन्त के विधान से अनुप्राणित नहीं है, वह विधान सर्वहितैषी नहीं हो सकता और न उसके द्वारा विश्व में शान्ति की स्थापना ही हो सकती है। अत: राग-रहित होकर वास्तविक विधान का निर्माण करना अनिवार्य है।

(75) जिस महामानव के जीवन में सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति होती है, वही विधान का निर्माता है। सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति मानवमात्र के जीवन में हो सकती है। परन्तु उसके लिए अभिमान-शून्य होना अनिवार्य है। अत: प्रत्येक वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय आदि के मानव को निज-विवेक के प्रकाश में अभिमान शून्य होकर सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति करना परम आवश्यक है।

(76) सच्चा सेवक वही हो सकता है, जिसके जीवन में राष्ट्र का संचालक होने का प्रलोभन न रहे। सम्मान की दासता ने अभिमान को जन्म देकर सेवा-भाव को नष्ट किया है। इस कारण सेवक राष्ट्र का निर्माता हो सकता है; किन्तु राष्ट्र का संचालक नहीं। सेवक का शासन तो राष्ट्र और प्रजा दोनों के हृदय पर स्वत: होता है। अत: सेवक को राष्ट्र के संचालक होने के प्रलोभन का त्याग करना अनिवार्य है।

(77) समाज की बहुत बड़ी शक्ति राष्ट्र के बनाने में व्यय हो जाती है। उस पर भी सर्व-प्रिय राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पाता। इस समस्या को हल करने के लिए समाज के सेवकों को परस्पर मिलकर विचार-विनिमय द्वारा किसी ऐसी पद्धति का निर्माण करना चाहिए, जो सर्व-प्रिय राष्ट्र बनाने में समर्थ हो। यह तभी सम्भव होगा, जब सेवा करने वाला विभाग सेवा को अपनी खुराक न बनाये, सेवक होकर सम्मान का दास न हो जाए। अत: सेवा को सजीव बनाने के लिए वासनाओं का त्याग अनिवार्य है।

(78) सच्चे सेवक के पीछे समाज स्वयं चलता है और उसे समाज का यथेष्ट ज्ञान रहता है। वही समाज में से सर्वप्रिय राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। अत: सेवकों के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण आवश्यक है।

(79) प्रत्येक मत, सम्प्रदाय तथा वाद के व्यक्ति समाज के प्रति हित-कामना रखते हैं और अपने-अपने ढंग से समाज के उत्थान में भी भाग लेते हैं परन्तु वे परस्पर विचार-विनिमय नहीं करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि समाज का कुछ भाग प्रत्येक हित-चिन्तक के अधीन हो जाता है। इस कारण समाज अनेक विभागों में विभाजित हो जाता है और सेवा करने वाले वर्ग परस्पर संघर्ष में समाज की शक्ति का अपव्यय करने लगते हैं।

अत: समाज की शक्ति का सद्व्यय करने के लिए सभी समाज-सेवियों को परस्पर विचार-विनिमय करना अनिवार्य है।

(80) सेवा की सजीवता तथा सफलता इसी में है कि जिसकी सेवा की जाए, उसमें स्वत: सेवा का भाव जाग्रत हो जाए और जो सेवा करे, उसमें अपने अधिकार का त्याग आ जाए। जब सेवक के जीवन में से अधिकार-लालसा सर्वांश में नष्ट हो जाती है, तब उसकी की हुई सेवा विभु होकर समाज में सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होती है। अत: सेवक को सेवा के फल की तो कौन कहे, सेवक कहलाने की लालसा का भी त्याग करना अनिवार्य है।

(81) सच्चा सेवक वही हो सकता है, जिसने अपनी सेवा की हो। अपनी सेवा करने के लिए अपने को अपने सम्बन्ध में ही विचार करना होगा। अर्थात् अपने जाने हुए असत् का त्याग करने पर ही मानव अपनी सेवा कर सकता है। अपनी सेवा करने पर जीवन में सेवा की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प से सुगन्धि स्वत: फैलती है, उसी प्रकार जिसने अपनी सेवा की है, उसके द्वारा सभी की सेवा स्वत: होने लगती है। अत: सेवक होने के लिए अपनी सेवा करना अनिवार्य है।

(82) सेवक हुए बिना की हुई सेवा, सेवा के रूप में भोग है, सेवा नहीं। सेवा के रूप में किया हुआ भोग व्यक्ति को गुणों के अभिमान में आबद्ध कर देता है। गुणों का अभिमान समस्त दोषों की भूमि है। उसके नाश हुए बिना जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। निर्दोषता के बिना सच्ची सेवा हो ही कैसे सकती है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। अत: सेवा के रूप में भोग का त्याग अनिवार्य है।

(83) सुख-भोग की लालसा से रहित होने पर ही सेवा का भाव उदित होता है। सेवा भाव है, कर्म नहीं। सेवा-भाव से भावित कर्म आस्तिक के लिए पूजा, अध्यात्मवादी के लिए राग-निवृत्ति का साधन और भौतिकवादी के लिए सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है। अत: सेवा-भाव की अभिव्यक्ति के लिए सुख-भोग के प्रलोभन का त्याग अनिवार्य है।

(84) अपने दु:ख का कारण दूसरों को मानना दु:ख में आबद्ध होना है। दु:ख में आबद्ध प्राणी दु:ख से भयभीत हो जाता है, जिसके होते ही आए हुए दु:ख का सदुपयोग नहीं कर पाता। इसके किये बिना दु:ख का नाश नहीं होता। अत: अपने दु:ख का कारण अपने ही को मानना आवश्यक है।

(85) अपने दु:ख का कारण अपने को मानते ही अपने में सजगता आती है, जिसके आते ही अपना प्रमाद नष्ट हो जाता है और जिसके होते ही प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य अपने-आप आ जाती है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही समस्त विकास निहित है। अत: अपने दु:ख का कारण किसी और को न मानना अनिवार्य है।

(86) जब व्यक्ति अपने दु:ख का कारण किसी और को नहीं मानता, तब उसके जीवन में से द्वेष की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है।

जिसके बुझते ही हृदय में प्रीति की गंगा लहराने लगती है और वैरभाव का नाश हो जाता है तथा जिसके होते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य-गुणों की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। अत: दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिए द्वेष की अग्नि को बुझाना अनिवार्य है।

(87) प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। पर प्राप्त परिस्थिति का आदर वे ही मानव कर सकते हैं, जो परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि नहीं रखते, अपितु प्रत्येक परिस्थिति को विकास का साधन मानते हैं। अत: प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

(88) परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा उनके उपयोग का बड़ा महत्त्व है। परिस्थिति का सदुपयोग करने पर वह परिस्थिति विकास की ओर अग्रसर करने में समर्थ अर्थात् सार्थक सिद्ध होती है। अत: प्राप्त परिस्थिति को हितकर जानकर उसका सदुपयोग अनिवार्य है।

(89) सुख-दु:ख दिन-रात के समान अपने-आप आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं। सुख उदारता और दु:ख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। अत: सुख में उदार और दु:ख में विरक्त रहना अनिवार्य है।

(90) सुख न चाहने पर भी अपने-आप चला जाता है और दु:ख बिना ही बुलाए स्वत: आ जाता है। सुख जाने में और दु:ख आने में स्वाधीन है। सदैव रहने में दोनों ही असमर्थ हैं। सुख का प्रलोभन और दु:ख का भय आए हुए सुख-दु:ख का सदुपयोग नहीं करने देते। दु:ख का पूरा प्रभाव दु:खी पर हो जाने से सुख की दासता अपने-आप मिट जाती है, जिसके मिटते ही दु:ख सदा के लिए मिट जाता है। अत: आए हुए दु:ख का पूरा प्रभाव होना आवश्यक है।

(91) सुख-दुःख का भोगी प्राणी सुख-दुःख में आबद्ध रहता है। सुख-दुःख का बन्धन सेवा तथा त्याग से ही मिट सकता है। सुख का सदुपयोग सेवा में और दुःख का सदुपयोग त्याग में निहित है। अतः सुख-दुःख से मुक्त होने के लिए सेवा तथा त्याग को अपना लेना अनिवार्य है।

(92) दुःख का भोग अहितकर और दुःख का प्रभाव हितकर सिद्ध होता है। कारण, कि दुःख का भोग सुख की दासता को पुष्ट करता है और दुःख का प्रभाव सुख की दासता को नष्ट करता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में दुःख के प्रभाव का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि समस्त विकास दुःख के प्रभाव में निहित है। अतः दुःख का प्रभाव विकास के लिए अनिवार्य है।

(93) समस्त सृष्टि सुख-दुःख का समूह है। इसी कारण कोई भी प्राणी सुख-दुःख से रहित नहीं है। किन्तु सुख-दुःख फिर भी जीवन नहीं है; क्योंकि दोनों ही आगमापायी (आने-जाने वाले, अनित्य) हैं। अतः सुख-दुःख के अतीत जो जीवन है, उसकी खोज करना अनिवार्य है।

(94) मानव-जीवन में ही जीवन की खोज सम्भव है। इस दृष्टि से मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। उसका मूल्यांकन किसी परिस्थिति-विशेष से करना भूल है। अतः मानवमात्र को वास्तविक जीवन की खोज वर्तमान में ही करना अनिवार्य है।

(95) जो जीवन नहीं है, उसे जीवन न मानने पर जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होती है। जीवन की जिज्ञासा सुख-भोग की कामनाओं को खा लेती

है। फिर अपने-आप प्रत्येक कार्य के अन्त में शान्ति का सम्पादन स्वत: होने लगता है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में हेतु है। अत: मानव-मात्र को वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करना अनिवार्य है।

(96) जीवन की खोज जीवन की जिज्ञासा में ही निहित है। जीवन की खोज उन्हीं को होती है, जो निज-विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओं का निरीक्षण करते हैं। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव ने ही जीवन की खोज को शिथिल बना दिया है। अत: विवेकवती बुद्धि की दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटाना परम आवश्यक है।

(97) इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नष्ट हुए बिना अचाह पद की उपलब्धि सम्भव नहीं है। इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग आवश्यक है और प्रभाव त्याज्य है। कारण, कि इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव अंकित होने पर अपने में राग-द्वेष का जन्म हो जाता है, जिससे त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। उसके हुए बिना वास्तविक जीवन से अभिन्नता नहीं होती। अत: राग-द्वेष का नाश अनिवार्य है।

(98) राग त्याग से, और द्वेष प्रेम से नष्ट होता है। त्याग विवेक में और प्रेम आत्मीयता में निहित है। विवेक मानवमात्र को अनन्त के मंगलमय विधान से स्वत: प्राप्त है। विवेकपूर्वक शरीर आदि वस्तुओं की ममता से रहित होते ही आत्मीयता की अभिव्यक्ति स्वत: हो जाती है। इस दृष्टि से ममता के त्याग में ही आत्मीयता निहित है। अत: त्याग और प्रेम का सम्पादन अनिवार्य है।

(99) त्याग-रहित प्रेम अनेक आसक्तियों को और प्रेम शून्य त्याग अभाव को पुष्ट करता है। इस दृष्टि से त्याग की सार्थकता प्रेम में और प्रेम की सार्थकता त्याग में ओतप्रोत है। त्याग और प्रेम का विभाजन

प्रमाद है। त्याग स्वाधीनता का और प्रेम अनन्त रस का प्रतीक है। इस दृष्टि से त्याग और प्रेम में ही जीवन की पूर्णता है। अत: मानवमात्र को त्याग और प्रेम की अभिन्नता स्वीकार करना अनिवार्य है।

(100) वास्तविक जीवन की माँग बीज रूप से मानवमात्र में विद्यमान है। मानव असावधानी के कारण विद्यमान माँग को विकसित नहीं करता, अपितु भविष्य की आशा पर उस माँग को दबाता रहता है। यद्यपि जीवन की माँग वर्तमान की माँग है, परन्तु व्यक्ति उसे संकल्प-पूर्ति के सुख में बदलने का प्रयास करता है। प्राकृतिक नियमानुसार संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में आबद्ध कर देता है, जिससे मानव वास्तविक जीवन की ओर सजग नहीं रहता। अत: मानवमात्र को अपने वास्तविक जीवन के प्रति जागरूक रहना आवश्यक है।

(101) सुख के प्रलोभन में आबद्ध प्राणी को दु:ख के भय से भयभीत होना ही पड़ता है। दु:ख का भय सुख की दासता को जन्म देता है। इस प्रकार सुख का प्रलोभन तथा दु:ख का भय सुख-दु:ख के प्रवाह को जीवित रखता है। उस प्रवाह में बहता हुआ प्राणी निज-विवेक का आदर नहीं करता। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि आया हुआ सुख तो चला जाता है, पर उसका राग बना रहता है और दु:ख से भी अधिक दु:ख का भय उसे भयभीत करता है। अत: मानवमात्र को सुख का राग तथा दु:ख का भय नष्ट करने के लिए निज-विवेक का आदर करना अनिवार्य है।

(102) मानव-जीवन में विवेक विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि विवेक-विरोधी कर्म से ही अकर्त्तव्य

का, विवेक-विरोधी सम्बन्ध से ही देहाभिमान का एवं विवेक-विरोधी विश्वास से ही वस्तु, व्यक्ति आदि के विश्वास का जन्म हुआ; जिससे जीवन भौतिक-दृष्टि से जगत् के लिए, अध्यात्म-दृष्टि से अपने लिए और आस्तिक-दृष्टि से अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। अतः मानव-जीवन की सभी समस्याओं का हल निज-विवेक के प्रकाश में करना अनिवार्य है।

(103) कर्त्तव्यपरायणता के बिना जीवन जगत् के लिए, देहाभिमान से जीवन अपने लिए, वस्तु, व्यक्ति आदि के विश्वास से जीवन अनन्त के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुआ है। अतः जीवन को उपयोगी सिद्ध करने के लिए कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं अनन्त में आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है।

(104) विवेक-विरोधी कर्म का त्याग करते ही कर्त्तव्य-परायणता अपने-आप आ जाती है। कारण, कि जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। अतः मानवमात्र को विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है।

(105) विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से असंगता अपने-आप आ जाती है, जिसके आते ही देहाभिमान स्वतः गल जाता है और फिर जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। अतः मानवमात्र को विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग अनिवार्य है।

(106) विवेक-विरोधी विश्वास ने ही जीवन में लोभ, मोह आदि अनेक विकार उत्पन्न कर दिये हैं, जिससे बेचारा व्यक्ति अनेक प्रकार की आसक्तियों में आबद्ध हो गया है। अत: समस्त आसक्तियों का नाश करने के लिए तथा अनुराग की अभिव्यक्ति के लिए मानवमात्र को विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करना अनिवार्य है।

(107) कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को नष्ट कर सुन्दर समाज के निर्माण में समर्थ है। असंगता देहाभिमान को खा कर अपने कल्याण में हेतु है। इस दृष्टि से सुन्दर समाज का निर्माण और व्यक्ति का कल्याण कर्त्तव्यपरायणता एवं असंगता में ही निहित है। अत: मानवमात्र को वर्तमान में ही कर्त्तव्यपरायणता एवं असंगता का सम्पादन करना अनिवार्य है।

(108) प्राकृतिक नियमानुसार मानव की माँग शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं अनन्त रस की है। उसकी पूर्ति के लिए मानवमात्र पर यह दायित्व है कि शान्ति के सम्पादन के लिए संकल्प-पूर्ति के सुख-भोग का त्याग, सामर्थ्य सम्पादन के लिए संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण न करना और स्वाधीनता सुरक्षित रखने के लिए सामर्थ्य का दुरुपयोग न करना अनिवार्य है। किन्तु अनन्त रस की अभिव्यक्ति तभी हो सकती है, जब साधक स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट न हो जाए। अथवा यों कहो कि स्वाधीनता देकर ही अनुराग की अभिव्यक्ति होती है, जो अनन्त रस का प्रतीक है। अत: मानव-जीवन की पूर्णता के लिए अपने दायित्व को पूरा करना अनिवार्य है।

❑

14. उपलब्ध साहित्य

1.	सन्त समागम भाग–1	15/-
2.	सन्त समागम भाग–2	7/-
3.	सन्त समागम भाग–3	7/-
4.	सन्त वाणी भाग–1 (सफलता की कुंजी)	10/-
5.	सन्त वाणी भाग–2	17/-
6.	सन्त वाणी भाग–3	8/-
7.	सन्त वाणी भाग–4	11/-
8.	सन्त वाणी भाग–5 (क)	6/-
9.	सन्त वाणी भाग–5 (ख)	6/-
10.	सन्त वाणी भाग–6	15/-
11.	सन्त वाणी भाग–7	15/-
12.	प्रश्नोत्तरी (संतवाणी)	10/-
13.	संत सौरभ (संतवाणी)	16/-
14.	संत उद्‌बोधन	18/-
15.	प्रेरणा पथ	18/-
16.	संत पत्रावली भाग–1	12/-
17.	संत पत्रावली भाग–2	15/-
18.	संत पत्रावली भाग–3	10/-
19.	जीवन दर्शन भाग–1	8/-
20.	जीवन दर्शन भाग–2	8/-
21.	चित्त शुद्धि भाग–1	15/-
22.	चित्त शुद्धि भाग–2	18/-
23.	जीवन पथ	9/-
24.	मानव की मांग	12/-
25.	मानव दर्शन	16/-

26. मूक सत्संग और नित्य योग	17/-
27. मानवता के मूल सिद्धान्त	9/-
28. सत्संग और साधन	4/-
29. साधन तत्त्व	7/-
30. साधन त्रिवेणी	15/-
31. दर्शन और नीति	9/-
32. दुःख का प्रभाव	10/-
33. मंगलमय विधान	8/-
34. जीवन विवेचन भाग–1 (क)	15/-
35. जीवन विवेचन भाग–1 (ख)	15/-
36. जीवन विवेचन भाग–2	20/-
37. जीवन विवेचन भाग–3	20/-
38. जीवन विवेचन भाग–4	20/-
39. जीवन विवेचन भाग–5	20/-
40. A Saint's call to Mankind	30/-
41. Sadhna Spot Light by a Saint	25/-
43. संत जीवन दर्पण	10/-
44. मानव सेवा संघ का परिचय	10/-
45. साधन निधि	6/-
46. पाथेय भाग–1	8/-
47. पाथेय भाग–2	7/-
48. पथ प्रदीप	5/-
49. प्रार्थना तथा पद	2/-
50. मैं की खोज	4/-

मिलने का पता : मानव सेवा संघ वृन्दावन – 281121 (मथुरा)
फोन : (0565) 2442778

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।